जैन भारती

वर्ष 55 • अंक 3 • मार्च, 2007

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001

Phones : 242-6141/9857/9426/9923
Fax : 91-33-2422004
e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVET
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 55 • मार्च, 2007 • अंक 3

प्रसंग

7
शुभू पटवा
प्रतिरोध और सहिष्णुता

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मौन सत्याग्रह : दासत्व पर कुठाराघात

34
साध्वी मुदितयशा
सूख रही हैं संवेदनाएं

37
मुनि राजकुमार
आचार-क्रांति के प्रणेता : आचार्य भिक्षु

40
डॉ. पुष्पलता जैन
होली : आध्यात्मिक रंग

43
कहानी
त. रा. सु.
0-0=0

46
कविता
रघुवीर सहाय की कविताएं

विमर्श

11
स्वामी ब्रह्मेशानंद
जैनत्व की प्रासंगिकता : आज के संदर्भ में

16
समणी मंगलप्रज्ञा
अहिंसा-तत्त्व-दर्शन : संदर्भ आचार्य भिक्षु

21
डॉ. दयानंद भार्गव
आचार्य भिक्षु का शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक निगाह

•

आवरण
अडिग

शीलन

49
साध्वी जयमाला
मंत्र-शक्ति : ऊर्जा का विकास

53
काका कालेलकर
स्वादु अन्नं न तु याच्यताम्

56
बालकथा
उमाशंकर त्रिपाठी 'बंधुजी'
सच्चा यज्ञ

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

जैसा गुड़ वैसी मिठास

पीपाड़ में एक गेवीराम नाम का चारण 'भक्त' था। लोगों में पूजा जाता था। वह अन्य भक्तों को लपसी खिलाता था। उसे लोगों ने बहकाया—'तुम भक्तों को लपसी खिलाते हो, उसमें भीखणजी पाप कहते हैं।'

तब वह भक्त गेवीराम हाथ में घोटा ले, घुंघरू बजाता हुआ, स्वामीजी के पास आया और बोला—'हे भीखण बाबा! मैं भक्तों को लपसी खिलाता हूं, उसमें क्या होता है?'

स्वामीजी बोले—'लपसी में जैसा गुड़ डाला जाता है, वह वैसी ही मीठी होती है।'

यह सुन वह बहुत राजी हुआ, भीखण बाबा ने बहुत अच्छा उत्तर दिया।

लोग बोले—'भीखणजी ने मानो पहले ही उत्तर घड़ रखा था।'

खेती गांव की सीमा पर

सं. 1853 में स्वामीजी ने सोजत में चातुर्मास किया। बहुत लोगों ने स्वामीजी के विचार को स्वीकार किया। जब किसी ने कहा—'भीखणजी! आपने उपकार तो अच्छा किया, बहुत लोगों को तत्त्व समझा दिया।'

तब स्वामीजी बोले—'खेती तो की है, पर गांव की सीमा पर। यदि गधे उसमें नहीं घुसेंगे, तो वह टिक पाएगी, अन्यथा उसका टिकना कठिन है।'

लड्डू खंडित है, पर है बूंदी का

स्वामीजी अपने गुरु से पृथक हो गए। साध्वियों की दीक्षा नहीं हुई थी, तब की बात है। किसी ने कहा—'तुम्हारे तीर्थ तीन ही हैं। लड्डू है, पर वह खंडित है।'

तब स्वामीजी बोले—'खंडित तो है, पर है वह चौगुनी/चार गुणा चीनी, घी का। ●

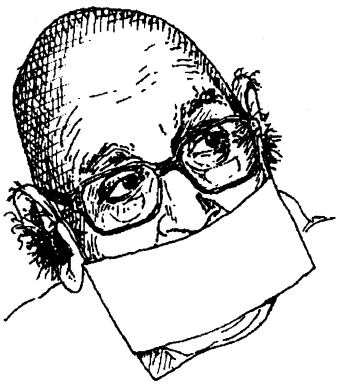

संसार के सामने दो स्थितियां हैं—भोग और त्याग। भोग का अतिवाद समाज को पतन की ओर ले जाता है। त्याग का अतिवाद सबके लिए संभव नहीं बनता। अणुव्रत एक ऐसा मार्ग है, जो भोग को सीमित करता है तथा त्याग को संभवता की सीमा में प्रोत्साहन देता है। इसके लिए शिक्षा में परिवर्तन की निहायत जरूरत है। वर्तमान में शिक्षा के द्वारा केवल बौद्धिक विकास हो रहा है। बौद्धिक विकास बहुत आवश्यक है, किंतु समस्याओं के समाधान के लिए केवल वही पर्याप्त नहीं है। समस्या सुलझती है—ज्ञान-चेतना और अंतर्दृष्टि का संतुलित विकास होने से। बौद्धिकता बढ़े और उसके साथ-साथ अंतश्चेतना न जागे तो बौद्धिकता स्वयं भी समस्या बन सकती है। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में अंतर्दृष्टि को जगाने वाली विद्या की शाखा को जोड़ दिया जाए तो वह भावी पीढ़ी के लिए एक महत्त्वपूर्ण अवदान हो सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

मनुष्य के पास एक बड़ी शक्ति होती है—बौद्धिकता। अपनी बौद्धिक क्षमता के आधार पर व्यक्ति नया अन्वेषण करता है, नई-नई योजनाएं बनाता है। व्यक्ति को अन्यान्य क्षेत्रों की भांति अपने जीवन के बारे में भी योजनाएं बनानी चाहिए। अच्छा जीवन जीने के लिए कुछ सूत्रों का निर्धारण करना चाहिए। ईमानदारी, अनावेश, व्यसन-मुक्ति और समय का सदुपयोग—इन चार संकल्पों के आधार पर आगे बढ़ने वाला व्यक्ति आदर्श जीवन जी सकता है और साथ ही विकास के नए पथ का निर्माण भी कर सकता है।

सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति के मन में कुछ-न-कुछ कामना, कुछ पाने की अभिलाषा रहती है। एक कामना भौतिक व अत्यंत सामान्य स्तर की होती है। एक कामना आध्यात्मिक व उच्च स्तर की होती है। उच्च स्तरीय मनोकामना रखने वाला अपने कर्म निर्जरण के साथ गौण रूप में अनेक भौतिक सुख-सुविधाएं भी प्राप्त कर लेता है। मेरा अंतःकरण मैत्री भाव के आलोक में आलोकित रहे, मेरे मन में गुणीजनों के प्रति अनुराग का भाव रहे, मेरे मन में दुखी जनों के प्रति सदा अनुकंपा रहे, मैं हर स्थिति में तटस्थ और मध्यस्थ रहूं—इन चार कामनाओं अथवा अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करने वाला स्वयं प्रमुदित रहते हुए परस्पर के व्यवहारों, संबंधों को भी सरस बना सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

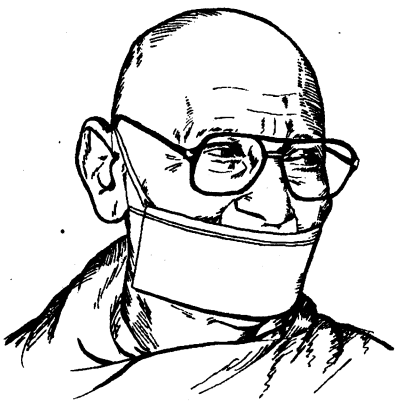

बहुत लोग यह विवेक नहीं कर पाते कि मैं शरीर नहीं हूं। यह सोचने का अनेक लोगों को अवकाश ही नहीं मिलता कि जो शरीर है—वह मैं नहीं हूं। यह बोध जिस दिन जाग जाए, उस दिन चेतना स्वामी बनेगी और शरीर उसका सेवक या सहयोगी बनेगा। अभी शरीर हमारा सहयोगी नहीं है। यदि शरीर हमारा सहयोगी होता तो शरीर में इतनी बीमारियां पैदा नहीं होतीं। शरीर में बीमारी क्यों पैदा होती है? इसका एक कारण यही है कि चेतना को स्वामी नहीं मानते। यदि चेतना को स्वामी मानकर चलें तो हमारा ध्यान चेतना पर केंद्रित होगा।

चेतना स्वस्थ कैसे रहे? विशुद्ध और पवित्र कैसे रहे? चिंतन का केंद्रीय तत्त्व चैतन्य रहेगा तो शरीर सहयोगी मात्र रह जाएगा। शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है, इसमें कोई संदेह नहीं है, किंतु चेतना को बीमार बनाकर शरीर को स्वस्थ रखने की बात भ्रांतिपूर्ण है। सचाई यह है कि जब चेतना विकृत बनती है, तब शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता।

चेतना का प्रतिनिधि है—भाव। भाव-चेतना ही जब बीमार है, तब शरीर कैसे स्वस्थ रहेगा? एक व्यक्ति निरंतर क्रोध के आवेश में रहता है, लोभ और अहं के आवेश में रहता है और वह सोचता है कि मैं स्वस्थ रहूं, क्या यह संभव है? एक व्यक्ति शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में आसक्त रहता है, इनका अनहद भोग करता है और सोचता है कि मैं स्वस्थ रहूं, क्या यह संभव हो सकता है? शब्द सुनना तो कान का काम है, किंतु यदि निरंतर कोलाहल ही सुनता रहे तो आदमी बहरा हो जाएगा। ध्वनि प्रदूषण केवल बहरापन ही नहीं, अनेक बीमारियां भी पैदा कर देता है। शब्द को सुनना एक सीमा तक आवश्यक हो सकता है, किंतु उसकी अति तो बीमारी का ही कारण बनती है। देखना आंख का काम है। एक व्यक्ति निरंतर देखता चला जाए, जैसे कि टी.वी. को दिन-रात देखते ही रहें, तो क्या होगा? स्वाद लेना जीभ का कार्य है, किंतु निरंतर स्वाद लेते चले जाएं, तो बीमार बन जाएंगे। पांच इंद्रियों के ये सारे विषय एक सीमा तक ही आवश्यक या उपयोगी हो सकते हैं। ये जीवन और शरीर की स्वस्थता के लिए एक सीमा तक ही मान्य हैं। इनका अति उपभोग करना बीमारियों को निमंत्रण देना है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

प्रतिरोध और सहिष्णुता

बदलते विश्व परिदृश्य और पिछले दो-तीन दशकों से भारत पर पड़ने वाले उसके प्रभावों को अब बहुत आसानी से देखा जा सकता है। आर्थिक विकास का जो दौर पिछले दशकों में शुरू हुआ, उसने हमारे समाज के मूल और बुनियादी स्वभाव को तो बुरी तरह से प्रभावित किया ही है, इसके प्रतिरोध में उठ खड़े होने की क्षमता का भी बुरी तरह से ह्रास हुआ है। इस कथित आर्थिक विकास ने हमारे सामाजिक-राजनीतिक जीवन को भी दूषित किया है और हमारी संस्कृति व जीवंत सभ्यता भी इसकी चपेट में हैं। कहना चाहिए कि संपूर्ण भारतीय समाज विकास के वर्तमान दौर की प्रेतछाया से लील लिया जा रहा है।

यूं तो यह छाया आजादी के आंदोलन के दौर में ही देश के सजग और विचारशील लोगों को नजर आने लगी थी, पर पहले आम चुनाव के बाद तो इसके पग इस कदर पसरने लगे कि तत्समय के जुझारू व सजग समाजचेता और नेतृत्वदाता भी कोई कारगर उपाय नहीं कर सके। कालेधन और भ्रष्टाचार के रूप में लगातार फैलता चला आ रहा इस विकास का जाल प्रमाण है। एक आकलन बताता है कि सन् 1953 से जिस कालेधन का फैलाव शुरू हुआ वह बीते दशक तक 40-50 फीसद तक पहुंच गया। यदि ऐसा न होता तो शिक्षा, स्वास्थ्य और गरीबी उन्मूलन जैसे कामों में सरकार के पास धन की कोई कमी नहीं होती।

देश और समाज की इस विद्रूप तस्वीर के सामने आज प्रतिरोध की क्षमता का विकास और उसको परिपुष्ट करने की बात क्या महत्त्वपूर्ण मुद्दा हो सकती है? यह एक विचारणीय और प्रासंगिक सवाल है, जिस पर कई दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। इस पर विचार करते हुए हमें सर्वप्रथम अपने इतिहास और अपनी परंपरा में झांकना चाहिए।

हम भगवान महावीर के काल को देखें। ईसापूर्व सन् 599 में महावीर का जन्म माना जाता है। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (इस साल मार्च महीने की 31 तारीख) को भगवान महावीर की जयंती है। 2606 वर्ष पूर्व के तत्समय की कालावधि में हम झांक कर देखेंगे तो पाएंगे कि महावीर का वह काल अनेक तरह की अराजकताओं और सामांजिक विसंगतियों से भरा था। उसके संपूर्ण विस्तार में जाने की यहां फिलहाल आवश्यकता नहीं है। भगवान महावीर ने तब गृह-त्याग किया था और एक संन्यासी के रूप में गहरी साधना करते हुए उस समय की सामाजिक स्थितियों के विरुद्ध क्रांति के स्वर उनकी वाणी से प्रस्फुटित हुए थे। वे स्वर प्रतिरोध के ही थे। तत्समय की घटनाओं को लेकर महावीर के उस समय के कदमों को यदि हम सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो मानेंगे कि जिस तरह महावीर ने उन सबका प्रतिरोध किया था, आज उसकी प्रबल प्रासंगिकता दृष्टिगत हो रही है।

यदि हम यह स्वीकार करें, तब हमें यह देखना होगा कि महावीर के प्रतिरोध का मूल आधार क्या था? हमें मानना होगा कि उनका प्रतिरोध किसी तरह के विद्वेष की प्रतिक्रिया के रूप में कभी नहीं हुआ। तत्समय की हिंसा, यातना, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति, भोग-विलास, नारी जाति की उपेक्षा और दासत्व की प्रवृत्ति, अंध-विश्वास और रूढ़ि-ग्रस्तता से समाज आक्रांत था और महावीर का प्रतिरोध इन सबके प्रति था, लेकिन प्रतिरोध की उनकी रीति-नीति में सर्वप्रथम संयम और साधना को स्थान मिला। प्रतिरोध के उनके स्वर अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह पर आधारित रहे, जो आगे चलकर उनके प्रमुख सिद्धांत भी बने। महावीर के प्रतिरोध में किसी का विरोध तो था ही नहीं। समरसता और समन्वय के सूत्र उनके प्रतिरोध के वाहक थे। प्रतिरोध का हमारा ऐसा इतिहास और ऐसी उसकी परंपरा रही है। इसे पूरी तरह से देखना, समझना और सहेजना जरूरी है।

प्रतिरोध की ऐसी परंपरा का निर्वाह क्यां वर्तमान समय में संभव है? यह संभव है या नहीं—मूलतः यह व्यक्ति की इच्छाशक्ति और अंततः समूह की दृढ़ निश्चयता पर निर्भर है। छब्बीस सौ वर्ष पहले के उस काल और महावीर की वैसी क्षमता को अपने तईं दोहराने का काम महात्मा गांधी ने पिछली सदी में कर दिखाया था। बीती सदी महात्मा गांधी के प्रयोगों की सदी ही मानी जाती है। आजादी के आंदोलन के दौरान जिस सविनय अवज्ञा और सत्याग्रह की बात महात्मा गांधी ने कही थी, हम देखें तो पाएंगे कि महावीर के प्रतिरोध के समतुल्य ही गांधी का सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा ठहरते हैं।

प्रतिरोध के साथ सहिष्णुता एक मूल्यवान पक्ष है। यदि हम सहिष्णु नहीं हैं, तो कहा जा सकता है कि प्रतिरोध का हमारा अधिकार भी तब हमें नहीं है। सहिष्णुता के प्रसंग पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कथन अत्यंत मननीय है। वे कहते हैं—'सहिष्णुता का अर्थ है—सहन करना। इसका दूसरा अर्थ है—शक्ति। दोनों अर्थों के योग से ही सहिष्णुता मनुष्य के लिए उपयोगी बनती है। शक्तिशून्य सहिष्णुता परवशता हो सकती है, अपनी स्वतंत्र चेतना की स्फूर्ति नहीं। जहां शक्ति के साथ सहिष्णुता होती है, वहां मानवीय स्पर्श होता है। उसमें न अहंभाव होता है और न हीनभाव। अहंभाव और हीनभाव विषमता है। इससे मानवीय अंतःकरण का स्पर्श नहीं होता। स्पर्श समता में है। प्रकृति का वैषम्य मानवीय संबंधों को विच्छिन्न करता है। एक का दूसरे के साथ संबंध तभी हो सकता है, जबकि दोनों ओर से साम्य हो, न हीनभाव हो और न अहंभाव हो। अध्यात्म योग और क्या है? यह साम्य ही तो अध्यात्म योग है। आचार्य सोमदेव सूरी ने आत्मा, मन, मरुत् और तत्त्व के समतापूर्ण संबंध को ही अध्यात्म योग माना है।' ऐसी सहिष्णुता के साथ ही प्रतिरोध परिपुष्ट हो सकता है।

अतः सहिष्णुता और प्रतिरोध—दोनों की क्षमताओं का विकास जरूरी है। व्यक्तिगत स्तर पर इनके विकास की जरूरत तो निर्विवाद है, पर इसकी व्यापक फलश्रुति सामूहिक विकास में ही संभव है। सहिष्णुता और प्रतिरोध जब साथ-साथ चलते हैं तो जैसा आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है कि उसमें न अहंभाव होता है और न हीनभाव। तब एक ही संभावना रहती है कि हम प्रतिरोध करते हुए भी कभी असहज नहीं हो सकते। सहजता से होने वाले प्रतिरोध में हिंसा या अहंकार के तत्त्व नगण्य ही होंगे। अहिंसक और अहंशून्य प्रतिरोध की शक्ति और क्षमता हमने महात्मा गांधी के हर कदम में देखी है। अतः यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि इनके विकास और इनकी क्षमता के परिपुष्ट होते जाने में ही आज की विषमताओं और विद्रूपताओं का शमन संभव है। यही एक समाधान है जो बदलते विश्व परिदृश्य में कारगर हो सकता है।

भगवान महावीर की 2606वीं जयंती (31 मार्च), अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) और आचार्य भिक्षु का अभिनिष्क्रमण (चैत्र शुक्ला नवमी, 27 मार्च) इस बार एक ही महीने में लगातार साथ-साथ हैं। ये सभी अवसर हमें प्रतिरोध और सहिष्णुता की उसी क्षमता की ओर उन्मुख कर रहे हैं जिनका इस 'प्रसंग' में जिक्र हुआ है। महावीर का जीवन-काल और गांधी के प्रयोग तथा स्त्री-शक्ति की अतुल क्षमता—एक साथ अनेक फलक हमारे सामने खुलते हैं। इनके विभिन्न पक्षों पर गहन विचार करने की जरूरत है जो हमें उस प्रेतछाया से मुक्त कर सकें जिससे आज समूची मानवीयता ग्रस्त है।

—शुभू पटवा

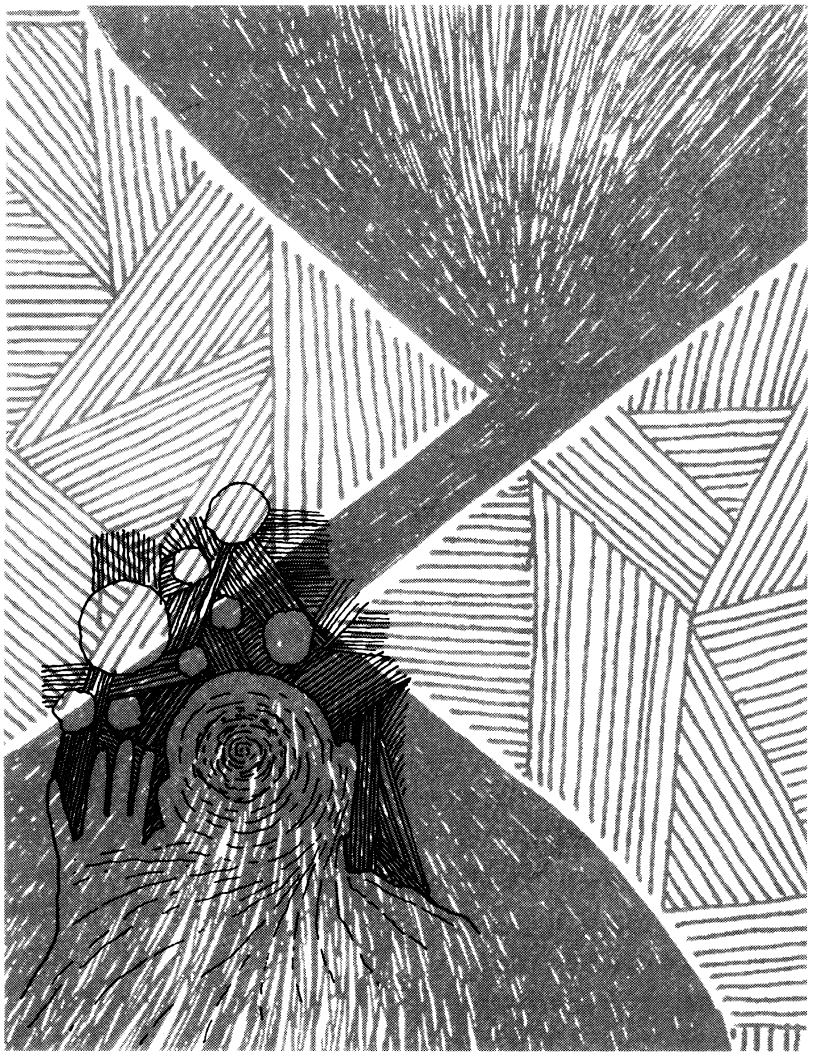

विमर्श

भारतीय परंपरा में राष्ट्रीय चेतना एक महाद्वीपीय सांस्कृतिक चेतना रही है। स्वाधीनता संग्राम के युग में इसी चिरंतन सांस्कृतिक पहचान का पुनरुद्धार हुआ और इसके साथ राजनीतिक स्वाधीनता एवं जनतंत्रात्मक राज्य की नई कल्पना जोड़ दी गई। इस चिरंतन सांस्कृतिक चेतना का निर्माण जिन तत्त्वों से हुआ, उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तो भारतीय संस्कृति की प्राणभूत आध्यात्मिक साधना की धार है, जो सत्य को एक पंथ-विशेष में सीमित नहीं करती; जो यह मानती है कि अपने-अपने अधिकार और उपासनाओं के अनुरूप मनुष्य निःश्रेयस् और स्वधर्म अनुसंधान करते हैं, और सभी मार्ग अंततोगत्वा उसी एक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं जैसे सब नदियां सागर की ओर।

—डॉ. गोविंदचंद्र पांडे

जैनत्व की प्रासंगिकता : आज के संदर्भ में

❑

स्वामी ब्रह्मेशानंद

हिंसा, तनाव, विभिन्न संप्रदायों के बीच अलगाव आदि आज के समाज की मुख्य समस्याएं हैं। जैन धर्म और दर्शन तीन प्रमुख सिद्धांतों के द्वारा इन समस्याओं का हल सुझाता है; ये हैं—अपरिग्रह, अहिंसा और अनेकांत। यदि हम अपने जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत को अपना लें तो मानव-मानव के बीच शांति और सौहार्द की भावना समूचे विश्व में स्थापित हो सकती है।

जैन दर्शन का मुख्य आधारभूत अंग उसका उदार दृष्टिकोण है।

'जैन' शब्द स्वयं ही संप्रदाय-विहीन है। किसी भी व्यक्ति ने यदि अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त की है तो वह 'जिन' कहलाता है और उसका अनुयायी 'जैन' कहलाने का अधिकारी है। इस दृष्टि से देखें तो जैन धर्म के अंतर्गत दुनिया के सभी धर्मों का समावेश किया जा सकता है, क्योंकि सभी धर्मों के संत-पुरुषों ने अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त की होती है। स्वामी विवेकानंद के 'वेदांत दर्शन' से इसकी तुलना की जा सकती है। स्वामी विवेकानंद ने भी वेदांत के तहत दुनिया के सभी धर्मों का समावेश करने की बात कही थी। जैन धर्म का 'णमोकार मंत्र', जो मंगलाचरण के रूप में बहुप्रचलित मंत्र है—वह धर्म और संप्रदाय से परे है। कोई भी व्यक्ति इस मंत्र का पाठ कर सकता है।

भारतीय परंपरा और इतिहास में श्रमण संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान और योगदान है। इसी तरह जैन दर्शन का भी अपना विशिष्ट स्थान है और जैनत्व की प्रासंगिकता पर विचार के जगत में निरंतर चर्चाएं होती रही हैं। ऐसी ही एक चर्चा पिछले वर्ष (मई, 2006) कोलकाता में हुई। चर्चाकार थे स्वामी ब्रह्मेशानंद।

आयुर्विज्ञान में उच्च अध्ययन के बाद सन् 1980 में रामकृष्ण मिशन में दीक्षित स्वामी ब्रह्मेशानंद रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठतम संन्यासियों में से एक हैं। आपने रामकृष्ण वेदांत सेंटर, ल्युसाका, जांबिया में मिशन के काम को आगे बढ़ाया और इसी दौरान जिंबाब्वे व दक्षिण अफ्रीका का भ्रमण भी किया।

स्वामीजी ने 'जैनत्व की प्रासंगिकता' पर रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट आफ कल्चर, कोलकाता में महादेवलाल सरावगी स्मृति व्याख्यान दिया। परिमिता पी. लोढा की ओर से प्रस्तुत इस व्याख्यान के हिंदी रूपांतर का संपादित पाठ जैन भारती के पाठकों के लिए—

अनेकांतवाद

अनेकांतवाद, स्यादवाद और नय—ये तीनों जैन दर्शन के तीन स्तंभ हैं। ये तीनों अवधारणाएं एक-दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़ी हैं और जैन तत्त्वमीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और तर्क पर प्रकाश डालती हैं। सत्य के विभिन्न रूपों को देख पाना अनेकांत है। इसे व्यवहार रूप में अभिव्यक्त करना स्यादवाद है। अनेकांतवाद को व्यावहारिक रूप में परिवर्तित करने का तात्पर्य है सत्य के अनगिनत गुणों से परिचित होना। अनेकांतवाद का सामाजिक-व्यावहारिक पक्ष देखें; इसके तीन प्रमुख चरण हैं—

1. धर्मांधता और कट्टरता की अनुपस्थिति,
2. सभी की स्वतंत्रता का सम्मान करना,

3. सहअस्तित्व और सद्भावना का स्वीकार।

ये तीनों ही पक्ष वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बहुत प्रासंगिक हैं।

जैन दर्शन का अनेकांतवाद का सिद्धांत सभी तरह की अवधारणाओं की सत्यता को किसी हद तक स्वीकार करता है, जो कि सत्यता का वास्तविक रूप कहा जा सकता है और किसी एक दृष्टिकोण से उसकी सत्यता के आधार पर अन्य विचारधाराओं व आस्थाओं का सम्मान करने की बात कहता है। इस तरह अनेकांतवाद हमें धर्मांध और कट्टर होने से बचाता है। अनेकांतवाद व्यक्ति के चिंतन को व्यापक व विकसित करता है। अनेकांतवाद अलग-अलग आस्थाओं व मतों के बीच टकरावों को दूर करता है और व्यक्ति अन्य धर्मों और आस्थाओं का सम्मान करना सीख जाता है। प्रो. टी.जी. कालघटी कहते हैं—'समाज में अनेकांतवाद की अवधारणा की बहुत आवश्यकता है, खासकर अभी, जब सभी धर्म एक-दूसरे की 'टांग खिंचाई' में लगे हैं।' अनेकांतवाद समाज में प्रबुद्धता, सहनशीलता, समन्वय और शांति लाता है।

वर्तमान समाज में सहनशीलता की बेहद जरूरत है। सहनशीलता, अन्य धर्मों और संप्रदायों के प्रति सम्मान का भाव जैन धर्म और धर्मावलंबियों में प्रारंभ से लेकर आज तक विद्यमान हैं। भगवान महावीर 'सूत्रकृतांग' में कहते हैं— 'जो लोग केवल स्वयं के धर्म व विचारों का सम्मान करते हैं तथा अन्य धर्मों के प्रति हेय भावना रखते हैं और इस प्रकार सत्य को तोड़ते-मरोड़ते हैं, वे कभी जीवन-मृत्यु से छुटकारा नहीं पा सकते।'

जैन दार्शनिकों का हमेशा यह मत रहा है कि सभी विचार सत्य हैं, जिन पर वे स्वयं अपना मत प्रकट करते रहे हैं, पर वे बातें सर्वथा निरर्थक हैं जो दूसरों के विचारों को नकारती हैं।

हरिभद्र (ईसापूर्व 8वीं सदी) कहते हैं—'भगवान महावीर से मेरा कोई पक्षपात नहीं है तथा महर्षि कपिल और अन्य ऋषियों-दार्शनिकों का भी मैं सम्मान करता हूं; जो विचार तर्कसंगत हैं, उन्हें अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए।' हेमचंद्र (ईसापूर्व 12वीं सदी) कहते हैं—'मैं उन सभी को प्रणाम करता हूं, जिन्होंने मोह-माया के बंधन से मुक्ति पाई है—चाहे वे ब्रह्मा, विष्णु, शिव या 'जिन', कोई भी हों।'

जैन साधुओं ने सदैव संप्रदायों के बीच समन्वय रखा है। यही कारण है कि जैन धर्म सदियों बाद भी अपना अस्तित्व कायम रख पाया है। भारत में प्रत्येक धर्म और जाति के बीच सांप्रदायिक तनाव रहा है, परंतु जैन हमेशा इससे बाहर ही रहे हैं।

आज धार्मिक कट्टरता बहुत बढ़ गई है, उग्रवाद भी इसी का परिणाम है, जिसकी आग में पूरा विश्व धधक रहा है। ऐसी स्थिति में जैन धर्म के उदार सिद्धांत पूरे विश्व में चमत्कार कर सकते हैं। जैन धर्म ने कभी भी हिंसा का सहारा नहीं लिया। आपसी सद्भाव, सहयोग और समझ से हर मुश्किल हल हो सकती है—ऐसा जैन धर्म का विश्वास है, जो इस समय की सबसे बड़ी जरूरत है। जैन जीवन-शैली में भ्रष्टाचार, हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्रत्येक मनुष्य को शांतिपूर्ण जीवनयापन करने का अधिकार है। हिंसा अपरिहार्य है, परंतु यह हमारे जीवन का अनिवार्य भाग नहीं हो सकती, क्योंकि यह विवेकहीन है और प्राकृतिक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। यदि मैं यह कहूं कि किसी को भी मेरे जीवन से खेलने का हक नहीं है, तो यह बात मेरे साथ भी सत्य है कि मुझे भी किसी के जीवन के साथ मजाक करने का अधिकार नहीं है। यह समानता का सिद्धांत है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। जीने का सिद्धांत यह नहीं कहता कि 'दूसरों पर राज करके जीओ', बल्कि 'सब को साथ लेकर जीना' ही जीवन जीना है, अर्थात् 'जीवो जीवस्य जीवनम्'—जैसा कि भागवत में कहा गया है। जैन जीवन दर्शन में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम'— की बात कही गई है। यद्यपि हमारे जीवन में पूर्ण अहिंसा असंभव है, परंतु हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हम जान-बूझकर जीव-हत्या न करें।

अहिंसा

अहिंसा की अवधारणा भी जैन धर्म की अनमोल भेंट है। भारतीय संस्कृति में—'अहिंसा परमोधर्मः'—माना गया है। प्रत्येक साधु-संत व्यक्तिशः अहिंसा का पालन करते रहे हैं। इसका श्रेय सीधा जैन धर्म को जाता है। आज से 2600 वर्ष पहले से ही जैन धर्म की शिक्षाएं व्यवहार में अपनाई जाती रहीं। इस बात से यह पता चलता है कि उस समय का समाज कितना सुसंस्कृत था, जब हर व्यक्ति अपने दैनंदिन व्यवहार में इतने कुलीन विचार रखता था। यह आरोप लगाया जाता रहा है कि

इससे भारतीय समाज कमजोर हुआ है, पर यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सांस्कृतिक रूप से समाज ज्यों-ज्यों उन्नति करता है त्यों-त्यों भौतिक-कायिक रूप से वह कमजोर होता जाता है।

प्रत्येक मनुष्य को शांतिपूर्ण जीवनयापन करने का अधिकार है। हिंसा अपरिहार्य है, परंतु यह हमारे जीवन का अनिवार्य भाग नहीं हो सकती, क्योंकि यह विवेकहीन है और प्राकृतिक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। यदि मैं यह कहूं कि किसी को भी मेरे जीवन से खेलने का हक नहीं है, तो यह बात मेरे साथ भी सत्य है कि मुझे भी किसी के जीवन के साथ मजाक करने का अधिकार नहीं है। यह समानता का सिद्धांत है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। जीने का सिद्धांत यह नहीं कहता कि 'दूसरों पर राज करके जीओ', बल्कि 'सब को साथ लेकर जीना' ही जीवन जीना है, अर्थात् 'जीवो जीवस्य जीवनम्'—जैसा कि भागवत में कहा गया है। जैन जीवन दर्शन में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम'—की बात कही गई है। यद्यपि हमारे जीवन में पूर्ण अहिंसा असंभव है, परंतु हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हम जान-बूझकर जीव-हत्या न करें।

हम परमाणु हथियारों के युग में जीवनयापन कर रहे हैं। आज संपूर्ण मानवता ही खतरे में नजर आ रही है। अहिंसा और आस्था ही हमें इस संकट से बाहर ला सकती हैं। जैन धर्म हमें बतलाता है कि किस तरह दैनंदिन जीवन में हम अहिंसा को अपना सकते हैं।

संपूर्ण प्राणी-जगत को उसकी इंद्रियों के आधार पर पांच भागों में बांटा गया है। सर्वाधिक विकसित प्राणी में स्पर्श, स्वाद, दृश्य, श्रवण और घ्राण—पांच इंद्रियां होती हैं, जबकि सबसे कम विकसित जीवन में केवल स्पर्शेंद्रिय ही होती है। जैन धर्म की मान्यता है कि साधुओं को एकेंद्रिय जीव की हिंसा भी नहीं करनी चाहिए। जैन दर्शन पौधों को भी जीव मानता है तथा उन्हें भी कम से कम कष्ट हो, ऐसा विचार रखता है। इस तरह अहिंसा की अवधारणा से पौधों और प्राणी-जगत का संरक्षण संभव हो सकता है।

अहिंसा का ही एक अन्य प्रतिरूप है—सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करना। अंधेरे में कीट-पतंगे अधिक सक्रिय हो जाते हैं और इनकी क्षति या हत्या की संभावना भी बढ़ जाती है। सूर्यास्त के बाद भोजन न करने के बहुत-सारे फायदे भी हैं। मधुमेह, हृदय रोग, 'हाइपरटेंशन' जैसी बीमारियों के मरीजों के लिए यह हितकारी है। धार्मिक कारण से भी यदि कोई सूर्यास्त के बाद भोजन का त्याग रखता है तो वह कई-सारे रोगों से सहज ही बचा रहता है।

अहिंसा का अन्य पहलू है—शाकाहार। जैन धर्म का ही प्रभाव है कि आज पूरी दुनिया शाकाहार पर बल दे रही है। इस बात के वैज्ञानिक सबूत हैं कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए शाकाहार ही श्रेष्ठ है।

जैन धर्मावलंबी अन्न का एक दाना भी व्यर्थ नहीं गंवाते। यहां तक कि खाना खाने के बाद वे अपनी थाली का पानी भी पी जाते हैं। उपनिषद में लिखित श्लोक—'अन्नम ना निन्द्यात' अर्थात् 'अन्न का अपमान नहीं करना चाहिए'—का इससे बेहतर उदाहरण कहां मिलेगा? जैन जन पानी का उपयोग भी बहुत सावधानी से करते हैं, क्योंकि जैन दर्शन पानी में भी जीवन मानता है। पानी के बेजा प्रयोग से पानी में उपस्थित एकेंद्रिय जीवों की हत्या होती है। यदि हम इसे व्यवहार में अपना लें तो जल संरक्षण की चिंता नहीं करनी पड़ेगी।

हिंदू और बौद्ध धर्मों की तरह ही जैन भी कर्म में विश्वास करते हैं। कर्म चार प्रकार के होते हैं तथा यदि कोई व्यक्ति किसी को अप्रत्यक्ष रूप से हानि पहुंचाता है, तो भी उसे इसका परिणाम भुगतना पड़ता है। उदाहरण के रूप में यदि कोई विद्यार्थी को विद्या अर्जन से रोकता है तो कुछ ही दिनों में उस व्यक्ति के ज्ञानार्जन के रास्ते में भी बाधाएं आती हैं। वर्तमान दौर में सभी व्यक्ति प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में रोड़े ही अटका रहे हैं। ऐसे में यह अवधारणा कारगर हो सकती है।

जैन मत कई रूपों में सांख्य और योग से भी समानता रखता है। सांख्य मत मानता है कि आत्मा अनंत हैं, जिन्हें 'जीव' कहते हैं। योग विधान के तहत पांच यमों को जैन सिद्धांत भी स्वीकार करता है और इन बुनियादी नियमों का पालन किया जाता है। जैन मत में पांच महाव्रत्तों के पालन पर आग्रह रहता है। जैन साधु-समाज इन महाव्रतों का कड़ाई से पालन करता है। जबकि गृहस्थ के लिए ये महाव्रत कुछ लचीले होते हैं। इन्हें अणुव्रत कहते हैं। किसी भी अन्य धार्मिक संप्रदाय में इस तरह के नैतिक मूल्यों को इतना महत्त्व नहीं दिया गया है। जैन आचार्य तुलसी द्वारा चलाया गया अणुव्रत आंदोलन जैन और अजैन—दोनों में ही बहुत लोकप्रिय रहा है। अणुव्रत के प्रशिक्षण शिविर भी आयोजित किए जाते हैं

और अणुव्रत को मानने वालों के लिए एक आचार-संहिता भी निर्धारित है।

अपरिग्रह

पांच व्रतों में एक व्रत है—अपरिग्रह, जिस पर जैन मत में काफी महत्त्व दिया गया है। अपरिग्रह अर्थात् संग्रह न करने की वृत्ति। इसके बिना अहिंसा का पालन भी संभव नहीं है। स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि पश्चिम में जितना संभव हो उतना संग्रह करने की परंपरा है, जबकि भारत में कम से कम में जीवनयापन करना श्रेष्ठतम माना गया है। दिगंबर जैन साधुओं से अच्छा उदाहरण हो ही नहीं सकता, जो कमंडलु और मोर के पंखों से बनी 'पूंजनी' रखते हैं, ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों को सावधानीपूर्वक हटा सकें। जैन धर्मावलंबियों से भी यही अपेक्षा की जाती है कि वे आवश्यकता से अधिक संग्रह न करें। पश्चिमी भोगवाद के प्रभाव में आकर आज भारतीयों की सोच में जो परिवर्तन आया है उसे कम करने में जैन धर्म का यह सिद्धांत निश्चित रूप से फलदाई हो सकता है।

ब्रह्मचर्य

स्वामी विवेकानंद ने सत्य और ब्रह्मचर्य पर बल दिया था। जैन मत अहिंसा और अपरिग्रह पर बल देता है, तथापि जैन सिद्धांत में ब्रह्मचर्य को भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैन धर्म में आज भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहां लोगों ने अपनी वासनाओं व इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त किया है। भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्यों पर पश्चिम की चोट का करारा जवाब ब्रह्मचर्य ही हो सकता है।

संयम

जैन मत मोक्षप्राप्ति में ही पूर्णता मानता है। मोक्षमार्ग के तीन आयाम हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चरित्र; इन्हें त्रि-रत्न कहते हैं। जैन दर्शन में संयम को बहुत महत्त्व दिया गया है। संयम के दो रूप होते हैं—बाह्य संयम और आंतरिक संयम। व्रत, तपस्या आदि बाह्य संयम के रूप हैं। विनम्रता, स्वाध्याय, ध्यान, आध्यात्मिक स्वाध्याय, अध्ययन आदि आंतरिक संयम हैं। सेवा कार्यों को भी आंतरिक संयम ही माना गया है, जबकि सेवा में शारीरिक क्रिया भी निहित होती है। इसका यही अर्थ लगाया जाना चाहिए कि सेवा करने में मानसिक सहमति आवश्यक है, इसीलिए इसे आंतरिक श्रम माना गया है। यह मत श्री रामकृष्ण के 'शिव-ज्ञान-जीव-सेवा' की अवधारणा से काफी मेल रखता है।

आधुनिकतावादी शरीर-संयम, जैसे व्रत आदि को इस आधार पर नकारते हैं कि ये प्रकृति के विरुद्ध हैं। भगवद्गीता का उदाहरण देते हुए आधुनिकतावादी इसे 'तामसिक तप' कहते हैं। हकीकत तो यह है कि हम बहुत अधिक सुविधाभोगी हो गए हैं और अपने शरीर को कष्ट देना ही नहीं चाहते। कुछ जैन धर्मावलंबी बहुत लंबे और कठिन तप करते हैं। वैसी स्थिति को छोड़ दें, अन्यथा यह वैज्ञानिक तथ्य है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए व्रत और उपवास बहुत जरूरी हैं।

जैन समाज में संथारे का विधान है। आज के समय में लोग मृत्यु से डरते हैं और मोह-माया के जाल में उलझे रहते हैं। जबकि जैन समाज जीवन को आत्मत्याग और सहजता से जीने का पक्षधर है। कोई भी जैन धर्मावलंबी अस्वस्थता अथवा वृद्धावस्था में जब व्यक्ति स्वयं के दैनिक कार्यों के लिए भी परिजनों पर आश्रित हो जाए अथवा उसकी देख-रेख का जिम्मा समाज को उठाना पड़े, तो व्यक्ति धार्मिक रूप से अन्न-जल त्याग सकता है। यह आत्महत्या नहीं है, बल्कि बीमारी की हालत में अस्पताल में कष्ट झेलने से बेहतर है कि मानसिक, आत्मिक और शारीरिक प्रसन्नता से इच्छा-मृत्यु का वरण करना।

ध्यान

जैन धर्म बहुत व्यवस्थित और व्यावहारिक है। इसके आचार्यों व नेतृत्वकर्ताओं ने पिछले ढाई हजार सालों के दौरान अपने सिद्धांतों, आचार-संहिताओं को व्यवस्थित रूप दिया है। ध्यान साधना भी ऐसी ही एक व्यवस्थित तकनीक है। जैन साहित्य में तथा व्यवहार रूप में ध्यान का बहुत अधिक महत्त्व है। विपश्यना पद्धति के अलावा भी ध्यान की बहुत-सारी प्रचलित पद्धतियां हैं जो आज के युग में प्रासंगिक हैं।

जैन दर्शन में ध्यान को चार श्रेणियों में बांटा गया है। आर्त ध्यान तथा रौद्र ध्यान से चिंता, उदासी, विद्वेष जैसी स्थितियां उत्पन्न होती हैं, अतः इससे दूर रहना चाहिए। धर्म-ध्यान सर्वाधिक प्रभावशाली होता है। इसके भी कई रूप होते हैं। इन सबकी विवेचना यहां संभव नहीं है। एक ध्यान विधि जो कि अंततः 'शुक्ल ध्यान' तक जाकर ठहरती है, ध्यान की उच्चतर परिणति कही जा सकती है।

यद्यपि आस्था का अपना महत्त्व है, लेकिन जैन दर्शन में अच्छे आचार-विचार को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यही कारण है कि आज भी जैन धर्म लोकप्रिय है। अधिकतर धर्मों में 'स्वर्ग की सीढ़ी' के बारे में बताया जाता है। कुछ धर्मों में आत्मा और परमात्मा की निकटता अथवा आध्यात्मिक ज्ञान के आधार पर 'स्वर्ग की सीढ़ी' की व्याख्या की जाती है, परंतु जैन धर्म नैतिकता के आधार पर इसकी व्याख्या करता है। इस सीढ़ी के चौदह चरण होते हैं, जिन्हें 'गुणस्थान' कहा जाता है। इसमें किसी भी देवी-देवता अथवा धर्मविशेष का कोई उल्लेख नहीं होने के कारण कोई भी व्यक्ति इसका अध्ययन कर सकता है और इससे लाभ ले सकता है। स्वामी विवेकानंद ने भी चरित्र को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। चरित्रहीन व्यक्ति का कोई मोल नहीं होता।

णमोकार या नवकार मंत्र के अलावा जैन धर्मावलंबी हिंदी प्रार्थना—'मेरी भावना' भी करते हैं। यह प्रार्थना हिंदी, संस्कृत और बांग्ला की अन्य प्रार्थनाओं से भिन्न है। इस प्रार्थना में साधक अपने जीवन, अपनी इच्छाओं आदि के लिए प्रार्थना करता है। अन्य शब्दों में इसे जैन आचार संहिता भी कहा जा सकता है। इस प्रार्थना में व्यक्ति समाज, देश और पूरे विश्व के प्रति अपनी शुभेच्छा प्रेषित करता है। यह प्रार्थना पूरी तरह से सर्वधर्म समभाव को चरितार्थ करती है।

इस प्रार्थना के प्रारंभ में स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सहृदय साधुओं को प्रणाम किया जाता है। ये साधु बुद्ध, जिन, हरि—कोई भी हो सकते हैं। कवि प्रार्थना करता है कि वह सदैव ऐसे साधु लोगों की संगति में रहे। इसके पश्चात् नैतिक मूल्यों की बात की जाती है, कवि की कामना है कि वह सदैव नैतिकता की सीमा में रहे। आखिर में कवि कहता है कि पूरी दुनिया में शांति, समृद्धि और अहिंसक समाज की स्थापना हो। सभी धर्मों में नैतिकता को लेकर बहुत-कुछ लिखा गया है, परंतु यह गीत बहुत अलग है। ऐसा लगता है कि यह आमजन की भावना है।

क्षमा

'क्षमा' जैन धर्म की विशिष्टता है। अपने पापों को स्वीकार करने के बाद न केवल गुरु, साधु, दोस्तों, परिजनों से, बल्कि प्राणीमात्र से क्षमायाचना की जाती है।

खामेमि सव्व-जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केण इ।।
मेरी सबके साथ मित्रता, नहीं किसी से वैर शत्रुता
मैंने क्षमा किए सब प्राणी, और मुझे भी क्षमा-दान दें,
जग के सारे जीवन-धारी, तो मैं उनका अति आभारी!

क्षमायाचना और क्षमादान की ऐसी भावना को अपनाकर कोई भी व्यक्ति भावात्मक व मनोवैज्ञानिक शांति अर्जित कर सकता है।

पिछले कुछ समय से देश और पूरी दुनिया में बहुत परिवर्तन आए हैं। जैन समाज को भी गरीबी और बेरोजगारी जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। यद्यपि जैन जन स्व-श्रम पर बल देते रहे हैं और अन्य समुदायों के मोहताज नहीं रहे हैं। उद्योग और व्यापार में जैन लोगों को खासी महारत है। अपने संसाधनों का समुचित उपयोग करने में सक्षम जैन समाज ने देश की समृद्धि में गहरा योगदान दिया है। बीसवीं शताब्दी में शिक्षित, पढ़े-लिखे जैन युवक अमेरिका, जापान, सिंगापुर, इंग्लैंड आदि देशों में बसे और वहां भी अपनी प्रतिभा से सभी को प्रभावित किया।

वाणिज्य और व्यापार में इनकी पकड़ होती है। वस्तुतः आज के वाणिज्यिक, औद्योगिक समय में जैन लोग सर्वाधिक सफल सिद्ध हुए हैं।

प्राकृतिक आपदाओं के समय भी जैनियों ने मुक्त हाथों से सहयोग किया है। स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, विश्राम स्थल आदि का निर्माण भी करवाया है। पशु-संरक्षण में भी इनका योगदान रहा है। पर्यावरण संरक्षण में जैन धर्म की मुख्य भूमिका है। इसी तरह विश्वबंधुत्व, प्रेम, सौहार्द्र व नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देने में भी इसकी प्रमुख भूमिका है।

यह सब होते हुए भी अपनी रूढ़िवादी जीवन-शैली और अत्यंत धार्मिक स्वभाव के चलते आज के इस आधुनिक समय में जैन जन कितने प्रासंगिक हैं? यह एक प्रश्न है। यह वास्तविकता है कि सामाजिक परिप्रेक्ष्य में जैन सिद्धांतों का गहराई से अध्ययन नहीं हुआ है। अहिंसा की वैश्विक प्रासंगिकता और जैन धर्म के अन्य मूल्यों पर अब तक खास अध्ययन नहीं किया गया है। इसलिए यह प्रश्न हमें विचलित करता है। जैन धर्म व दर्शन का गहन अध्ययन ही इस प्रश्न का एकमात्र जवाब हो सकता है। ❖

अनुवाद
—परिमिता पी. लोढा

अहिंसा-तत्त्व-दर्शन : संदर्भ आचार्य भिक्षु

❑

समणी मंगलप्रज्ञा

भारतीय मानस विचार रहित आचार और आचार रहित विचार का पक्षधर कभी नहीं रहा है। अंधे और पंगु का आपसी सहयोग दोनों को ही इच्छित दिशा और दशा प्रदान करता है। आचार और विचार का यही संबंध काम्य भी है। जीवन और दर्शन का पारस्परिक संयोग आचार और विचार को पूर्णता प्रदान करता है। इसीलिए जीवन और दर्शन के जुड़ाव को भारतीय दर्शन का संस्कार कहा जा सकता है।

हयं नाणं कियाहीणं
हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो,
धावमाणो अ अंधओ।।

आचार्य भद्रबाहु का यह वक्तव्य इसी सत्य को उजागर कर रहा है।

अहिंसा के संदर्भ में इसी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए अपने ग्रंथ 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' में लेखक ने कहा है—'अहिंसा कोरा विचार नहीं है। मूलतः वह आचार है। आचार के साथ उतना न्याय नहीं होता, जितना विचार के साथ होता है। विचार से अधिक, यदि आचार न हो, तो कम-से-कम इतना अवश्य हो कि विचार से कम भी आचार न हो।' लेखक के मंतव्यानुसार अहिंसा कोरी अवधारणा नहीं है, वह जीवन की साधना है।

अध्यात्म दर्शन की आधारभित्ति है—वीतरागता, जबकि सामाजिकता का आधार है—रागात्मकता। आचार्य भिक्षु के दर्शन में अध्यात्म और व्यवहार की इस भेदरेखा का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। जो व्यक्ति इस भेदरेखा को समझे बिना आचार्य भिक्षु के दर्शन को पढ़ने या समझने का प्रयत्न करते हैं, वे स्वयं भ्रांत होते हैं तथा अन्य को भी भ्रमित करते हैं। रागात्मकता के आधार पर निर्मित सामाजिक कर्तव्य एवं वीतरागता-संचालित अध्यात्म-दर्शन नदी के दो पाट हैं, जिनको एक करने का प्रयत्न उनके अस्तित्व को समाप्त करने का ही प्रयत्न कहलाएगा। आचार्य भिक्षु ने अपने-अपने स्थान पर इन दोनों का ही महत्त्व अंगीकार किया है।

आचार्य भिक्षु
अभिनिष्क्रमण दिवस
चैत्र शुक्ला नवमी
(27 मार्च)
पर विशेष

आचार्य भिक्षु का अभिनिष्क्रमण दिवस चैत्र शुक्ला नवमी (27 मार्च) पर विशेष

आचार्य भिक्षु की वैचारिक क्रांति को प्रबुद्ध जन-मानस समझना चाह रहा था। इसी आशय से गुरु का संकेत मिला, एक विनम्र शिष्य को। गुरु के इंगित को आकार मिलने लगा। इसी प्रयत्न में एक अमूल्य कृति **अहिंसा-तत्त्व-दर्शन** अस्तित्व में आई। अतः **अहिंसा-तत्त्व-दर्शन** ग्रंथ का प्रणयन सप्रयोजन हुआ है। स्वयं लेखक इस कृति के उद्भव की भूमिका में लिखते हैं—'आचार्य भिक्षु को पढ़ने का पहला अवसर था। उसको पढ़ने का अर्थ था—अहिंसा को पढ़ना। मेरे लिए अहिंसा और आचार्य भिक्षु एकार्थक जैसे बन गये।.... जनसाधारण के लिए तेरापंथ और आचार्य भिक्षु अज्ञेय थे। जो कुछ ज्ञेय था वह भी भ्रमपूर्ण। आचार्यश्री तुलसी इस स्थिति को बदलने में संलग्न थे।'

इसी बदलाव की प्रक्रिया के

सहयात्री आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बने। आचार्य भिक्षु के साहित्य की अर्थयात्रा करके उन्होंने 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' के रूप में नवनीत प्रस्तुत किया है। अपने गुरु (आचार्यश्री तुलसी) के इंगित को शिष्य (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) ने आकार दिया। इस ग्रंथ के माध्यम से अहिंसा के तात्त्विक पक्ष की अवगति अब समग्रता से हो जाती है। इस ग्रंथ के स्वाध्याय से जिज्ञासु की पिपासा सहज ही शांत होती है, वह तृप्ति की अनुभूति करता है, जो सर्वसुलभ नहीं है। प्रज्ञाश्रमण आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अहिंसा के गंभीर विचार को इतनी सहजता, सरलता एवं स्पष्टता से अभिव्यक्त कर देते हैं कि जिसे पढ़ कर पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' ग्रंथ तीन खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में सात अध्याय हैं, जिनमें अहिंसा की अवधारणा को आगमिक दृष्टिकोण तथा अन्यान्य धर्म-दर्शन के विचारकों के अभिमत से संपुष्ट किया गया है। द्वितीय खंड मुख्य रूप से आचार्य भिक्षु की वाणी का प्रत्यक्षीकरण करवाता है। इस खंड में पांच अध्याय हैं। इस तरह प्रथम दो खंड अहिंसा के विचार-पक्ष से संवलित हैं। तीसरा खंड आचार-पक्ष से संबंधित है। इसमें दो अध्याय हैं। आचार और विचार का समन्वय करने वाली यह पुस्तक इस दृष्टि से अपने-आप में पूर्ण है। पर, 'पूर्ण का अर्थ यह नहीं कि अपूर्ण नहीं है। अहिंसा जैसे विषय को शब्दों की पूर्णता कब-कैसे प्राप्त हो सकती है?'—विद्वान लेखक की यह स्वीकारोक्ति सत्य की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है।

निमित्तों का महत्त्व : अहिंसा का संदर्भ

अहिंसा का भाव प्राणीमात्र का सहजात धर्म है। इसलिए अहिंसा के आदि-बिंदु की जिज्ञासा जिज्ञासु को सुदूर अतीत में ले जाती है। प्राणीमात्र में अहिंसा एवं हिंसा, दोनों ही विद्यमान हैं। निमित्त के साहचर्य से उनका जागरण एवं शयन होता रहता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने हिंसा और अहिंसा के संदर्भ में निमित्त को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यौगलिक युग का उदाहरण देकर वे कहना चाहते हैं कि अहिंसा के विकास में उपादान के साथ ही निमित्त के महत्त्व को भी नकारा नहीं जा सकता। निमित्तों की सबलता एवं निर्बलता भी जनसाधारण के मन में अहिंसा एवं हिंसा के भाव को सबल एवं निर्बल बनाती है। 'आवश्यकताओं की पूर्ति सहजभाव से हो जाती थी, इसलिए यौगलिक मनुष्यों के सामने संघर्ष की स्थितियां नहीं थीं। वे शांत जीवन जीते थे। क्रोध, अभिमान, माया और लोभ उपशांत थे। ....संग्रह के परिपार्श्व में हिंसा, असत्य और चोरी को भी विकसित होने का अवसर मिलता है।' —इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि निमित्त भी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

अहिंसा का सामाजिक व आध्यात्मिक आदर्श

सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा की अवधारणा एवं आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा की स्वीकृति के मूल्य-मानक पृथक-पृथक हैं—'सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था—प्राणातिपात का आंशिक निषेध—मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना और न मारने का अर्थ था—सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण और स्थाइत्व।'

दूसरी ओर आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ माना गया प्राणातिपात का सर्वथा निषेध—'किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। प्राणातिपात के सर्वथा निषेध का लक्ष्य था मुक्ति, यानी परिपूर्ण आत्मोदय। मुक्ति का दर्शन जैसे-जैसे विकसित हुआ, वैसे-वैसे अहिंसा की मर्यादा भी व्यापक होती चली गयी।'

सामाजिक एवं आत्मिक क्षेत्र की अहिंसा का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था। आत्मिक क्षेत्र में प्राणीमात्र की हिंसा अस्वीकार्य है, किंतु सामाजिक क्षेत्र में यह प्रतिबद्धता नहीं है—'यदि हिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन उदित होने से पहले ही अस्त हो जाता और यदि अहिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन गतिशील नहीं बनता। इस तथ्य की स्वीकृति वास्तविकता की अभिव्यक्ति मात्र होगी कि हिंसा और अहिंसा—ये दोनों तत्त्व सामाजिक अस्तित्व को धारण किए हुए हैं।' समाज हित में होने वाली हिंसा भी सामाजिक जीवन में आदेय मानी जाती है, किंतु मुक्तिपथ में समाजोपयोगी हिंसा भी मान्य नहीं हो सकती।

अहिंसा : अध्यात्म एवं व्यवहार

अध्यात्म और लौकिक व्यवहार में निरंतर संघर्ष चलता रहता है। अध्यात्म अपनी ऊंचाइयों का व्यवहार के साथ समझौता नहीं कर सकता। समस्या तब पैदा होती है जब व्यक्ति अध्यात्म और व्यवहार को एक धरातल पर लाने का प्रयत्न करता है। आचार्य भिक्षु

अध्यात्म विद्या के प्रवक्ता थे, किंतु व्यवहार भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। वे व्यवहार की अनिवार्यता को नकारते नहीं थे, किंतु अध्यात्म और व्यवहार के अनुचित मिश्रण के विरोधी थे। 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' ने आचार्य भिक्षु की इस अवधारणा को यौक्तिकता प्रदान की है।

अध्यात्म दर्शन की आधारभित्ति है—वीतरागता, जबकि सामाजिकता का आधार है—रागात्मकता। आचार्य भिक्षु के दर्शन में अध्यात्म और व्यवहार की इस भेदरेखा का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है। जो व्यक्ति इस भेदरेखा को समझे बिना आचार्य भिक्षु के दर्शन को पढ़ने या समझने का प्रयत्न करते हैं, वे स्वयं भ्रांत होते हैं तथा अन्य को भी भ्रमित करते हैं। रागात्मकता के आधार पर निर्मित सामाजिक कर्तव्य एवं वीतरागता-संचालित अध्यात्म-दर्शन नदी के दो पाट हैं, जिनको एक करने का प्रयत्न उनके अस्तित्व को समाप्त करने का ही प्रयत्न कहलाएगा। आचार्य भिक्षु ने अपने-अपने स्थान पर इन दोनों का ही महत्त्व अंगीकार किया है। चांदी एवं तांबे के सिक्के अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं, किंतु दोनों का मिश्रण तो खोटा सिक्का ही कहलाता है।

अध्यात्म एवं लोकधर्म का अंतर

'अध्यात्म और लोकधर्म का पृथक्करण'—शीर्षक में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आचार्य भिक्षु की इस अवधारणा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर उसकी मूल्यवत्ता को रेखांकित किया है—'आचार्य भिक्षु ने जो दृष्टिकोण दिया, उसमें समस्याओं का बौद्धिक समाधान सन्निहित है। इसलिए वे सही अर्थों में धर्मक्रांति के महान सूत्रधार थे। समाज-धारणा और आत्म-साधना को एक मानने के कारण जो जटिल स्थितियां पैदा होती हैं, उनका सही समाधान इनका पृथक्करण ही है।'

लौकिक कर्तव्य और अध्यात्म के बीच विरोध का कारण रागात्मकता और वीतरागता है। अध्यात्म और समाज के बीच मूलभूत अंतर होने के कारण दोनों क्षेत्रों में उचित और अनुचित का आधार अलग-अलग होगा। आचार्य भिक्षु के सिद्धांत को समुचित रूप से समझने के लिए हमें अध्यात्म और सामाजिकता के मध्य भेद करना होगा। आचार्य भिक्षु के सिद्धांतों के बारे में यह गलत अवधारणा बन गई कि उनके सिद्धांत समाज विरोधी थे। आचार्य भिक्षु ने अध्यात्म और व्यवहार की स्पष्ट भेद-रेखा प्रस्तुत की। उन्होंने सामाजिक कर्तव्यों के पालन का निषेध कहीं भी नहीं किया। उनके विचारों का प्रतिपाद्य अध्यात्म है, व्यवहार नहीं है। अतः इस भूमिका-भेद को समझना ही होगा। ग्रंथ में आचार्य भिक्षु को उद्धृत करके इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है—

संसार तणा उपगार कियां मैं।
जिण धर्म रो अंश नहीं छै लिगार।।

आचार्य भिक्षु के अध्यात्म दर्शन के गांभीर्य को जनसाधारण पचा नहीं सका। फलतः उनके सिद्धांतों को दयाहीन, समाज-विरोधी कहा जाने लगा। आचार्यश्री तुलसी ने आचार्य भिक्षु के दर्शन को युगीन भाषा में प्रस्तुत करना प्रारंभ किया। उनकी वाणी में नए तर्क थे, नवीन पद्धति थी और स्पष्टोक्ति का नया प्रकार था। इस प्रांजल अभिव्यक्ति से भ्रांति का कुहासा छंटा और विरोध का स्वर भी क्षीण पड़ा।

'लौकिक धर्म' शब्द का आधार

आचार्यश्री तुलसी सामाजिक कर्तव्यों को लौकिक धर्म कहते थे। आज तो यह शब्द तेरापंथ दर्शन के अध्येता विद्यार्थीगणों के लिए चिर-परिचित हो गया है। इसका आधार आगम तथा मुख्य रूप से आचार्य भिक्षु का साहित्य ही है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आचार्य तुलसी द्वारा प्रयुक्त लौकिक धर्म आदि शब्दों की आधार भूमि प्रस्तुत करते हुए कहा—'आचार्य भिक्षु ने स्थान-स्थान पर संसार रो मार्ग, लोक रो मार्ग, संसार रो उपकार, संसार को काम, लौकिक दया, लोक रो छांदो, मोक्ष धर्म नहीं आदि-आदि शब्दों का व्यवहार किया। आज हम लौकिक कर्तव्य, लौकिक उपकार, लौकिक दया, लौकिक धर्म, लौकिक पुण्य, लौकिक दान आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनका आधार आचार्य भिक्षु के उपर्युक्त शब्द प्रयोग हैं।'

'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' ग्रंथ में लेखक द्वारा प्रस्तुत प्रसंग में इसका निदर्शन है—'दया और दान लौकिक हो सकते हैं, उपकार और कर्तव्य लौकिक हो सकते हैं, देव और गुरु लौकिक हो सकते हैं—तब धर्म और पुण्य लौकिक क्यों नहीं हो सकते?' पाठक से पूछा गया यह प्रश्न पाठक को उनके समर्थन में खड़ा कर देता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की लेखनी का यह वैशिष्ट्य है कि वे अपने विचारों को किसी पर लादते नहीं हैं, विचारों की तर्कपूर्ण प्रस्तुति ही पाठक को खुद-ब-खुद उनके विचारों के सम्मुख ला खड़ा कर देती है।

अहिंसा की कसौटी : संयम

आचार्य भिक्षु की अहिंसा का आधार संयम है। 'अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो'—प्राणीमात्र के प्रति संयम का व्यवहार ही अहिंसा है। दशवैकालिक का यह उद्घोष आचार्य भिक्षु की अहिंसा की अवधारणा का मूल स्रोत है। आचार्य भिक्षु संयम की कसौटी पर तथ्यों को कसते गए। परीक्षित सत्य ही उनकी साधना के आधार बिंदु बनते रहे। उन्होंने मोह अनुकंपा को धर्म नहीं माना। उनके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति समता का भाव था। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा को धर्म मानने के लिए वे कभी तैयार नहीं हुए। उनके मस्तिष्क में दान और दया की मर्यादा का पूरा विवेचन था। लोग उनके सिद्धांतों की व्याख्या तोड़-मरोड़ कर करते रहे। चूहे-बिल्ली जैसी भ्रामक आपत्तियां उठाईं। धर्मसंकट के प्रश्नों द्वारा जनता को उत्तेजित किया। फिर भी वे अपने विश्वास पर अटल रहे। शांत भाव से जनता को तथ्य बताते रहे।

उनका अहिंसा, दान और दया संबंधी दृष्टिकोण लोकधारणा से भिन्न था। उन्होंने बताया—अध्यात्म-दया वह है, जिसमें राग-द्वेष-मोह आदि न हों। वही दान आत्म-कल्याण का हेतु है, जो संयम का आलंबन बने। धर्म का स्वरूप आत्म-संयम और आत्म-संतुष्टि है। भौतिक संतुष्टि और भौतिक संरक्षण अध्यात्म-धर्म नहीं हैं।

अध्यात्म के सूत्र

अहिंसा का मूलमंत्र है—संयम। संयम की साधना जितनी पुष्ट होगी, अहिंसा का रूप उतना ही अधिक प्रखर एवं तेजस्वी होगा। संयम और अहिंसा को पृथक नहीं किया जा सकता। संयम ही अहिंसा है। अहिंसा की पूर्णता अध्यात्म की पराकाष्ठा है। अहिंसा का फलित है—अध्यात्मवाद। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अध्यात्म के विचार बिंदुओं का आचार्य भिक्षु के दर्शन के आधार पर सुंदर प्रस्तुतीकरण किया है। जैसे—

- अध्यात्मवादी वह होता है—जो दूसरों से न डरे, न दूसरों को डराए, न स्वयं से दूसरे को ऊंचा-नीचा समझे और न दूसरों से स्वयं को ऊंचा-नीचा समझे, सबके प्रति समभाव बरते।
- परमात्मा बनने के लिए और मिथ्याभिमान से बचने के लिए अध्यात्मवाद का सूत्र है—संयम की साधना।
- अध्यात्मवाद से आकांक्षा की तृप्ति नहीं, उसका अभाव हो सकता है।
- संयम में अपना नियंत्रण होता है, इसलिए संयमी एकांत में भी अन्याय नहीं करता।
- निर्भयता अहिंसा का प्राण है। भय से कायरता आती है। कायरता से मानसिक कमजोरी और उससे हिंसा की वृत्ति बढ़ती है।

अहिंसा और अभ्युदय

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः'—धर्म की इस परिभाषा ने प्रेय और श्रेय की सिद्धि का साधन धर्म को ही स्वीकार किया है। आध्यात्मिक उन्नयन एवं भौतिक संसिद्धि—इन दोनों का स्वरूप पृथक है, किंतु उसकी प्राप्ति का साधन एक माना गया। इससे भ्रांतियां पैदा हुई—'एक ओर जैन परंपरा मोहजन्य करुणा को धर्म-साधना नहीं मानती थी, दूसरी ओर उसे धर्म मानने वालों का संख्याबल प्रबल हो चुका था। जैन इन दोनों स्थितियों के बीच में थे। उनकी आंतरिक श्रद्धा मोहजन्य प्रवृत्तियों को इनकार करती थी और जनमत उन्हें उस ओर खींच रहा था। फलतः प्रारंभ में वे कुछ झुके। उन्होंने अनुकंपाकृत कार्यों को अनिषिद्ध बताया। आगे चलकर यह पुण्य स्कंध के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। वर्तमान में भी कई जैन इसे धर्म-मोक्ष-साधना भी कहने लगे हैं।' आचार्य भिक्षु ने अहिंसा पर आए इस कुहासे को दूर करने का सघन प्रयत्न किया। इस प्रक्रिया में उन्हें कठोर भी होना पड़ा। सत्य का प्रकटीकरण सहज नहीं होता है। आकर्षण, भय, प्रलोभन सत्य को अभिव्यक्त नहीं होने देते। अनासक्ति का प्रखर साधक ही उस प्रलोभन, आकर्षण की दुस्तरणी को तैर सकता है। आचार्य भिक्षु ने इसी दुष्कर कार्य को संपादित किया।

बहुत-सारे व्यक्ति लौकिक व्यवहार को ही धर्म-पुण्य मान कर आत्म-धर्म की साधना से विमुख हो जाते हैं। रागात्मकता से परिपुष्ट उनका चिंतन आत्म-धर्म की अतल गहराइयों में अवगाहन नहीं कर सकता। लौकिक व्यवहार गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। 'आरंभ' या हिंसा करना गृहस्थ की कमजोरी है, किंतु उसे धर्म समझना मोह की प्रबलता है। जो व्यक्ति व्यक्तिशः अपार संग्रह करे और आचार्य भिक्षु के सिद्धांत की दुहाई देकर सामाजिक कर्तव्यों से बचने का प्रयत्न करे, उसके ऐसे दंभपूर्ण व्यवहार को आचार्यश्री महाप्रज्ञजी छलावे के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते—'वैयक्तिक स्वार्थ का भरपूर पोषण करने

वाले सामाजिक स्वार्थ से बचने के लिए दंभ भरें—यह सही नहीं लगता। 'गाय से दूध लूंगा, किंतु उसे घास नहीं डालूंगा'—ऐसी अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति अहिंसा नहीं, किंतु अहिंसा के साथ मखौल है।' आचार्य भिक्षु ने सामाजिक कर्तव्यों के निर्वाह का निषेध कहीं भी नहीं किया। उन्होंने अध्यात्म और सामाजिक कर्तव्यों में विवेक प्रदान किया।

अहिंसा : कतिपय प्रश्न

जीव-दया, जीव-रक्षा आदि विषयों के संदर्भ में आचार्य भिक्षु के विचारों की अनुप्रेक्षा करने से भ्रांतियां स्वतः निरस्त हो जाती हैं। सामान्य व्यक्ति मात्र शरीर-रक्षा को ही अहिंसा मान लेता है और उसी के अनुरूप आचरण करता है। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा की पहचान में दिव्य दृष्टि प्रदान की है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने उस दिव्यता को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—रक्षा का सामान्य अर्थ है—बचाना। इससे संबंध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्न चार हैं—रक्षा किसकी? किससे? क्यों? और कैसे? प्रत्येक प्रश्न के दो विकल्प बनते हैं :

1. रक्षा शरीर की या आत्मा की?
2. रक्षा कष्ट से या हिंसा से?
3. रक्षा जीवन को बनाए रखने के लिए या संयम को बनाए रखने के लिए?
4. रक्षा हिंसात्मक पद्धति से या अहिंसात्मक पद्धति से?

अहिंसात्मक पद्धति द्वारा संयम को बनाए रखने और हिंसा से आत्मा को बचाए रखने की वृत्ति का नाम है—आत्म-रक्षा। जबकि हिंसात्मक पद्धति द्वारा जीवन को बनाए रखने के लिए कष्ट से बचाव होता है—वह शरीर-रक्षा है।

वास्तव में शरीर-रक्षा और आत्म-रक्षा—ये दोनों लाक्षणिक शब्द हैं। इनका तात्पर्यार्थ है—हिंसात्मक प्रवृत्ति द्वारा विपदा से बचने का प्रयत्न करना शरीर-रक्षा और हिंसा से बचने का प्रयत्न करना आत्म-रक्षा। अहिंसा को मात्र शरीर-रक्षा के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। शरीर-रक्षा उसका प्रासंगिक फल हो सकता है। मूलतः तो अहिंसा आत्म-रक्षा से ही जुड़ी हुई है।

साधन शुद्धि

साध्य जैसे शुद्ध हो, वैसे ही साधन भी शुद्ध होने चाहिए। आत्म-रक्षा के लिए साध्य और साधन, दोनों ही अहिंसात्मक होने आवश्यक हैं। 'हिंसक के प्रति हिंसा बरतना, बल-प्रयोग करना, प्रलोभन देना—यह अहिंसा की मर्यादा में नहीं आता। अहिंसा की मर्यादा वह है कि अहिंसक हर स्थिति में अहिंसक ही रहे। वह किसी भी स्थिति में हिंसा की बात न सोचे। अहिंसक पद्धति से हिंसा का विरोध करना अहिंसा-धर्मी का कर्तव्य है।' आचार्य भिक्षु को किसी भी परिस्थिति में साधन की अशुद्धि मान्य नहीं थी। उनका साध्य-साधनवाद का सिद्धांत अध्यात्म-पिपासुओं के लिए आलोकस्तंभ है।

यह सर्वमान्य है कि आचार्य भिक्षु ने भगवान महावीर की वाणी का ही पुनरुच्चार किया था। समय के प्रवाह में जिस वाणी का वेग श्लथ हो गया था, उसको उन्होंने गतिमत्ता प्रदान की। धर्म के क्षेत्र में आए मिश्रण को पृथक करने का दुष्कर कार्य भी आचार्य भिक्षु ने किया। 'अहिंसा-तत्त्व-दर्शन' ग्रंथ में भगवान महावीर की वाणी से परिपुष्ट आचार्य भिक्षु के विचारों की प्रस्तुति तर्कपूर्ण ढंग से हुई है। यह ग्रंथ जैन धर्म-दर्शन की प्रलंब परंपरा से परिपुष्ट है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

आचार्य भिक्षु का शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक निगाह

❑

डॉ. दयानंद भार्गव

मारवाड़ के एक गांव कंटालिया में कोई एक दिव्य आत्मा का जन्म हुआ होगा। सहसा विश्वास नहीं होता, लेकिन यह एक सचाई है कि इस धरती पर जन्मी वह आत्मा केवल त्यागी-वैरागी संत ही नहीं, महान विचारक और दार्शनिक भी था। इसी संत की तीक्ष्ण मेधा ने देश के माने हुए और प्रतिष्ठित विद्वान डॉ. सतकौड़ि मुखर्जी को प्रथम परिचय में ही मंत्रमुग्ध कर दिया। वह प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष परिचय था। ये थे—आचार्य भिक्षु, जिनकी सैद्धांतिक, वैचारिक और दार्शनिक अवधारणाओं का उन्होंने चिंतन किया और समझा। वे तब विस्मित और विमुग्ध थे कि 18वीं सदी के इस संत को ऐसे गहन दार्शनिक विचार सूझे कैसे? अपनी विवेचना को उन्होंने मार्मिक ढंग से प्रस्तुति दी और कहा—खेद है कि आचार्य भिक्षु ने मारवाड़ की सूखी धरती पर जन्म लिया, अगर वे जर्मनी में जन्मे होते, तो आज उनका महत्त्व 'कांट' से भी ज्यादा होता।

डॉ. सतकौड़ि मुखर्जी के इस कथन के प्रथम वाक्य पर कुछ कहने की जरूरत नहीं, पर उनके दूसरे वाक्य की पुष्टि में अवश्य ही काफी कहा जा सकता है।

आचार्य भिक्षु ने अपने शिष्य समुदाय को जीवन की अनिवार्य और न्यूनतम अपेक्षाओं की कठिन हो चली आपूर्ति में भी जीवन-निर्वाह के लिए प्रशिक्षित किया। तब साधन-सुविधाओं और पुस्तकीय सामग्री का घोर अभाव था, लेकिन उनका प्रशिक्षण इससे प्रभावित नहीं हुआ, अपितु ज्यादा निखार पा गया। शिष्य समुदाय के चारित्रिक उत्थान के साथ-साथ शिक्षा भी उनके जीवन का एक अति-महत्त्वपूर्ण और सक्रिय अभियान था, पर उनकी शिक्षा अक्षरज्ञान की ड्योढ़ी को पार करती हुई जीवन के परम उद्देश्यों और चैतसिक उत्क्रांति से जुड़ी थी। सहिष्णुता का प्रशिक्षण, आचार-शुद्धि का प्रशिक्षण, त्याग और वैराग्य से उत्प्रेरित रहने का प्रशिक्षण, अनुशासन का प्रशिक्षण—ये उनके शिक्षण के महत्त्वपूर्ण घटक थे। उनका शिक्षा

आचार्य भिक्षु का मत यह था कि मूल प्रवृत्तियां व्यक्ति के आचरण को प्रभावित या संचालित तो करती हैं, लेकिन व्यक्ति की इच्छा-शक्ति ज्यादा प्रभावशाली होती है जो उन आदिम इच्छाओं पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लेती है। व्यक्ति चाहे तो इच्छाओं का दल बनाकर उनके अनुसार ही अपना आचरण करे, पर उसे सभ्य और उच्च आचरण नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति चाहे तो उनका अवदमन, उपशमन कर अपने निम्न आचरण को उच्चता की ओर ले जा सकता है। उनके अनुसार शिक्षा का कार्य ही यह है कि वह व्यक्ति की प्राकृतिक इच्छाओं, संस्कारों को सुसंस्कृत और परिष्कृत कर उसे अपने देवत्व को प्रकट करना सिखाए, न कि व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्तियों और आदिम इच्छाओं को ही महत्त्व देकर अपने पशुत्व को उभारे।

आचार्य भिक्षु अभिनिष्क्रमण दिवस पर विशेष

कार्यक्रम विभिन्न आयामों में विभक्त होते हुए भी एक उद्देश्य को पूर्णतः समर्पित था और वह था—सत्य के प्रति निष्काम समर्पण।

एक प्रश्न सहज ही सामने आता है कि अपने शिष्यों को शिक्षित करने की बात पर उन्होंने इतना अधिक बल क्यों दिया? उस शिक्षा का उनकी दृष्टि में दार्शनिक आधार क्या रहा होगा?

आचार्य भिक्षु के शिक्षा-दर्शन की गंभीरता को समझने के लिए हमें कतिपय पश्चिमी दार्शनिकों की अवधारणाओं को भी साथ-साथ समझ लेना चाहिए। पश्चिम के दार्शनिक जगत में प्रकृतिवाद और आदर्शवाद, दो मुख्य धारणाएं रही हैं। वाल्टेयर और रूसो प्रकृतिवाद के प्रधान नायक रहे हैं। अरस्तू, वेकन, लेमार्क, कोमरे, हक्सले, स्पेंसर और बर्नार्डशॉ भी इसी विचारधारा के प्रतिनिधि हुए हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार मनुष्य को प्रकृति के निकट तथा उसके संपर्क में लाने की आवश्यकता है। माना गया कि सभ्यता और सामाजिक विकास के कारण मनुष्य प्रकृति से दूर हो गया है और यही उसके दुख और पीड़ाओं का मूल कारण है। प्रकृतिवादी अवधारणा स्पष्ट करती है कि व्यक्ति के आचरण को नियमित करने वाला तत्त्व उसकी इच्छाशक्ति अथवा अंतःकरण नहीं है, बल्कि मूल प्रकृति या आदिम इच्छा या वे अनुभव हैं, जो व्यक्ति की शारीरिक शक्तियों पर वातावरण की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मते हैं। आचार्य भिक्षु का मत यह था कि मूल प्रवृत्तियां व्यक्ति के आचरण को प्रभावित या संचालित तो करती हैं, लेकिन व्यक्ति की इच्छाशक्ति ज्यादा प्रभावशाली होती है जो उन आदिम इच्छाओं पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लेती है। व्यक्ति चाहे तो इच्छाओं का दल बनाकर उनके अनुसार ही अपना आचरण करे, पर उसे सभ्य और उच्च आचरण नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति चाहे तो उनका अवदमन, उपशमन कर अपने निम्न आचरण को उच्चता की ओर ले जा सकता है। उनके अनुसार शिक्षा का कार्य ही यह है कि वह व्यक्ति की प्राकृतिक इच्छाओं, संस्कारों को सुसंस्कृत और परिष्कृत कर उसे अपने देवत्व को प्रकट करना सिखाए, न कि व्यक्ति अपनी मूल प्रवृत्तियों और आदिम इच्छाओं को ही महत्त्व देकर अपने पशुत्व को उभारे।

रागात्मक प्रवृत्ति प्राणी की एक मूल प्रवृत्ति है। जन्म के साथ ही वह इसे लेकर आता है। प्रकृतिवादी दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति के प्राकृतिक स्वभाव को विकसित करने का अवसर दिया जाए तो उसका व्यक्तित्व कैसा बनेगा, सहज ही कल्पना की जा सकती है।

आचार्य भिक्षु अनुभव करते हैं कि यह रागात्मक प्रवृत्ति—जिसे जैन तत्त्व की भाषा में मोह कहा जाता है—गृहत्यागी साधु को भी गृहस्थ का भौतिक सहयोग या उपकार करने को प्रेरित करती है और यह भौतिक सहयोग अनुकंपावश किया जाता है, अतः मोह को बढ़ाता है और मोह का बढ़ना स्वयं साधु के लिए अहितकर है। इसीलिए वे अपने शिष्यों को इससे बचने की शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं—**संसार तणो उपगार करे छे, तिणरे निश्चेइ संसार बंधतो जाणो। मोष तणो उपगार करे छे तिण रे निश्चेइ नेड़ी दीसे निखाणों।**

अपनी प्राकृतिक और मूल प्रवृत्तियों को बेअसर या निष्क्रिय कर अपनी शुद्ध अंतश्चेतना को विकसित करना ही उनकी शिक्षा के केंद्रीय उद्देश्य की संकल्पना है।

आचार्य भिक्षु के इस शिक्षा-दर्शन को हम आदर्शवाद के संदर्भ में देखें। प्लेटो, कमेनियस और पेस्टालौजी आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने मूल प्रवृत्तियों की अपेक्षा आत्मबोध और आत्म-विकास को ज्यादा महत्त्व दिया है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक फ्रोबेल का कहना है कि आंतरिक शक्तियों का

अभिनिष्क्रमण

'...मुझे आत्म-कल्याण को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। उसके बिना प्रत्येक साधना केवल विराधना या विडंबना बन कर रह जाती है।' उक्त चिंतन-क्रम में उन्होंने संघ से संबंध-विच्छेद कर अभिनिष्क्रमण का निश्चय कर लिया।

उन्होंने उपयुक्त समय का निर्धारण किया और तदनुसार वि.सं. 1817, चैत्र शुक्ला नवमी को आचार्य रुघनाथजी से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया। उनके साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी, इन चार संतों ने भी उस मार्ग का अनुसरण किया।

'रामनवमी' नाम से समग्र भारत में प्रख्यात वह पर्व स्वामी भीखणजी के लिए आत्म-विजय के पथ पर अभिनिष्क्रमण का पुनीत दिन बन गया।

—मुनि बुद्धमल्ल

विकास ही शिक्षा है। मेकडूगल भी मूल प्रवृत्तियों को रूपांतरित करके समाजोपयोगी कार्य में लगाने को शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्रता का प्रश्न एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। शिक्षा के अन्य अंगों की भांति अनुशासन भी दर्शनशास्त्र पर निर्भर है। देश और काल की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं—विशेषतः राजनीतिक विचारधाराओं—ने समय-समय पर शिक्षा में अनुशासन की समस्या को अपने ढंग से सुलझाया है। शिक्षार्थी को स्वतंत्रता दी जाए या उसे कठोर अनुशासन में रखा जाए—अनेक दार्शनिकों ने इस विषय पर अपने मंतव्य प्रकट किए हैं।

समस्या, जैसी कि प्रसिद्ध दार्शनिक फिस्ते को प्रतीत होती है, यह नहीं है कि क्या मनुष्य स्वतंत्र है, किंतु समस्या एक सीमा तक यह है कि उसकी स्वतंत्रता किस प्रकार की है? प्रकृतिवादी दार्शनिक लाक ने तो यह घोषणा की थी कि सब मनुष्य प्रकृत्या स्वतंत्र, समान तथा आत्मनिर्भर होते हैं।

आचार्य भिक्षु का मत था कि मनुष्य प्रकृति से स्वतंत्रताप्रिय होता है। अपने ऊपर किसी प्रकार का बंधन उसे इष्ट नहीं होता। लेकिन, लाक का प्रकृति से आत्मनिर्भर होने का दर्शन आचार्य भिक्षु को सम्मत प्रतीत नहीं होता है। अपने शिष्यों के लिए मर्यादा-पत्र लिखने से पूर्व उसकी भूमिका में वे स्पष्ट करते हैं कि—**चारित्र चोखो पालन रो उपाय कीधो छे, विनयमूल धर्म ने न्याय मार्ग पर चालण रो उपाय कीधो छे।** इससे लगता है कि आचार शुद्धि के लिए मर्यादा और अनुशासन की व्यवस्था करना वे आवश्यक समझते हैं। आत्मनिर्भरता की स्थिति अनुशासन सह लेने के बाद ही घटित होती है।

एडम्स महोदय ने अपनी पुस्तक—'गार्डन डेवलपमेंट इन एजूकेशन प्रैक्टिस'—में तीन प्रकार के अनुशासन की चर्चा की है। ये हैं—दमनात्मक, प्रभावात्मक और मुक्तात्मक। अनुशासन के ये तीन रूप तीन प्रकार की दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारधाराओं की ओर संकेत करते हैं—दमनवादी, प्रभाववादी और मुक्तिवादी। दमनवादी विचारधारा का आशय रहा कि बालक तो प्रकृति से ही उद्दंड और पापी होता है। अतः उसके हृदय की क्रूरता को नष्ट करने के लिए उसे बार-बार दंड—शारीरिक-दंड भी—देने की आवश्यकता है। कहावत भी प्रचलित हो गई थी—डंडा छूटा, बालक बिगड़ा। उनके अनुसार बालक के प्रति सहानुभूति रखना उसे अनुशासनहीन बनाना है। अतः बालक को दबा कर बलपूर्वक नियंत्रण में रखा जाए। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बालक को डराना, धमकाना और पीटना बिल्कुल गलत है। शिक्षक उसके मनोभावों को पढ़ कर मनोवैज्ञानिक ढंग से ही उसमें परिवर्तन लाए, यह मनोवैज्ञानिक शिक्षा का मंतव्य है। प्रभावात्मक अनुशासन का आशय है कि शिक्षार्थी को उच्च आदर्शों से प्रभावित किया जाए, अथवा शिक्षक स्वयं अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बालकों में अनुशासन स्थापित करे, न कि बलपूर्वक। मुक्तिवादी चरण अनुशासन के क्रमिक विकास का तीसरा चरण है। मुक्तिवादी दमन और प्रभाव, दोनों को ही अमान्य कर बालक को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन और स्वतंत्रता, दोनों का अद्भुत समन्वय किया है। अनुशासन को उन्होंने जितना आवश्यक माना, स्वतंत्रता का भी उतना ही सम्मान किया। आचार्य भिक्षु ने मर्यादा-पत्र में लिखा है—**ए सर्वसाधां रा परिणाम जोय ने रजामंद करने, यां कनां सूं विण जुदो-जुदी कहवाई ने मरजादा बांधी छै, जिणरा परिणाम मांहिला चोखा हुवे तो मती घालज्यो, कोई सरमां-सरमीं रो काम छै नहीं।** अनुशासन को थोपना वे पसंद नहीं करते थे। हृदय से स्वीकृत अनुशासन ही उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर हो सकता है।

शिक्षा का कार्य है—दुर्गुणों का पराभव करना और सद्गुणों का आविर्भाव करना। शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र में यह महत्त्वपूर्ण चर्चा चलती रही है कि मनुष्य का मन प्रकृति से निर्मल होता है या कुत्सित होता है। रूसो का अभिमत है कि जो कुछ प्रकृति से प्राप्त होगा, सत्य होगा। यही नहीं, वह शुभ भी होता है। रूसो कहते हैं—ईश्वर सभी वस्तुओं को शुभ बनाता है और जिस किसी का भी अस्तित्व है, वह शुभ है। इस प्रकार प्राकृतिक होने के कारण मनुष्य निसर्ग शुभ होना ही चाहिए। लाक का मत इससे भिन्न है। उनका मत था कि प्रकृत्या अशुभत्वं, घोर दुरात्मा होने के बजाय, मन एक कोरी पाटी है। रूसो इससे भी आगे जाते हैं और कहते हैं—मानव-हृदय में कोई भी आवेग अशुभ नहीं होता। लेकिन बाह्य कारणों से वह दोषयुक्त हो जाता है। वह दोषयुक्त या अशुभ क्यों होता है, उन कारणों का

हमें पता लगाना चाहिए। प्रसिद्ध दार्शनिक कांट इस संदर्भ में अपना अभिमत प्रकट करते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या न तो अच्छा है और न बुरा है, वह स्वतंत्र है। अच्छाई तथा बुराई उसकी स्वतंत्रता के प्रयोग के परिणाम हैं।

आचार्य भिक्षु ने भी मानव-मन को समझा, मानवीय प्रकृति को भी समझा और उसे नियंत्रित कर संस्कारित एवं परिष्कृत करने का कठिनतम कार्य भी किया। तब इस दार्शनिक चर्चा के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण क्या माना जाए—यह समझना आवश्यक हो जाता है। निंदा और विषमतावाद को मिटाने के लिए उन्होंने साधुओं और श्रावकों को शिक्षा देते हुए लिखा है—कोई व्यक्ति किसी साधु-साध्वी में दोष देखे तो तत्काल उसी से कह दे, अथवा गुरु को कह दे, पर दूसरों को न कहे। गलती करने वाले को उसकी गलती के प्रति सचेत न कर, या गुरु को न कह कर, प्रचारित करने का मतलब है कि उस व्यक्ति में सुधार नहीं चाहना। यह कुत्सित मनोवृत्ति है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा—बहुत दिनों के बाद यदि कोई किसी में दोष बताए, तो प्रायश्चित्त का भागी वही है—जो दोष बताता है। दोषों को इकट्ठा करके रखना और दोष के विषय में दोष करने वाले को भी कुछ न कहने का मतलब है कि ऐसा स्वार्थवश या कि प्रेमवश कर रहा है। उसका प्रेम टूट न जाए, उसकी स्वार्थपूर्ति बंद न हो जाए—इसलिए वह गलती के विषय में मौन रहता है और लंबे समय के बाद एक साथ उसके दोषों की गठरी खोलता है। इसका मतलब है कि अपना स्वार्थ टूट जाने के कारण क्षुब्ध होकर द्वेषवश यह सब कर रहा है। ये सब कुत्सित मन और असद् प्रवृत्ति के ही परिणाम हो सकते हैं। दोष के प्रकरण को लेकर आचार्य भिक्षु ने विस्तार से लिखा है। दोष प्रकरण के नीतिपत्र पर विचार करने से जो निष्कर्ष सामने आता है, वह यही है कि आचार्य भिक्षु की दृष्टि में मानव-प्रकृति साफ और शुद्ध नहीं होती। जन्म-जन्मांतर के संस्कार और ऐहिक वातावरण का प्रभाव उस पर रहता है। जहां संस्कारों का इतना बोझ मानव पर रहेगा, तब उसकी मनःप्रवृत्ति के स्वतः शुभ होने की कल्पना कैसे की जा सकती है? उनके अनुसार हमारा प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर बढ़ना ही मन की शुभ प्रवृत्ति है।

आचार्य भिक्षु के शिक्षा-दर्शन की कतिपय अवधारणाओं की पश्चिमी दार्शनिकों के साथ तुलना करने का तात्पर्य यही है कि इस पर गंभीरता व गहनता से तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए। तभी उनका शिक्षा-दर्शन अपेक्षानुसार व्याख्यायित हो सकता है। ❖

अणुव्रत पुरस्कार

वर्ष 2006 के लिए योग्य अभ्यर्थियों अथवा संस्थाओं के नाम के प्रस्ताव आमंत्रित हैं जिन्होंने समाज में मानवीय एकता, नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा, अणुव्रत के सिद्धांतों की स्थापना एवं स्वस्थ समाज संरचना हेतु सघन रूप से कार्य किया हो।

अणुव्रत पुरस्कार एक गरिमामय सम्मान है जिसके अंतर्गत प्रतिवर्ष किसी व्यक्ति अथवा संस्था को पुरस्कारस्वरूप रु. 1,21,000/- सममूल्य की धनराशि, प्रतीक चिह्न, प्रशस्ति-पत्र एवं शाल-सम्मान प्रदान किया जाता है।

प्रस्ताव की अनुशंसा करते समय निर्धारित फार्म का उपयोग करें। आपके प्रस्ताव आवश्यक अनुलग्नकों सहित संस्था के कार्यालय में 30 अप्रैल, 2007 तक जमा हो जाने चाहिए। फार्म एवं नियमावली संस्था के कार्यालय से प्राप्त की जा सकती है।

बनेचंद मालू
प्रबंध न्यासी

जय तुलसी फाउंडेशन
अणुव्रत भवन, 210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली 110002
संपर्क सूत्र : 011-23231373 फैक्स : 011-23231363

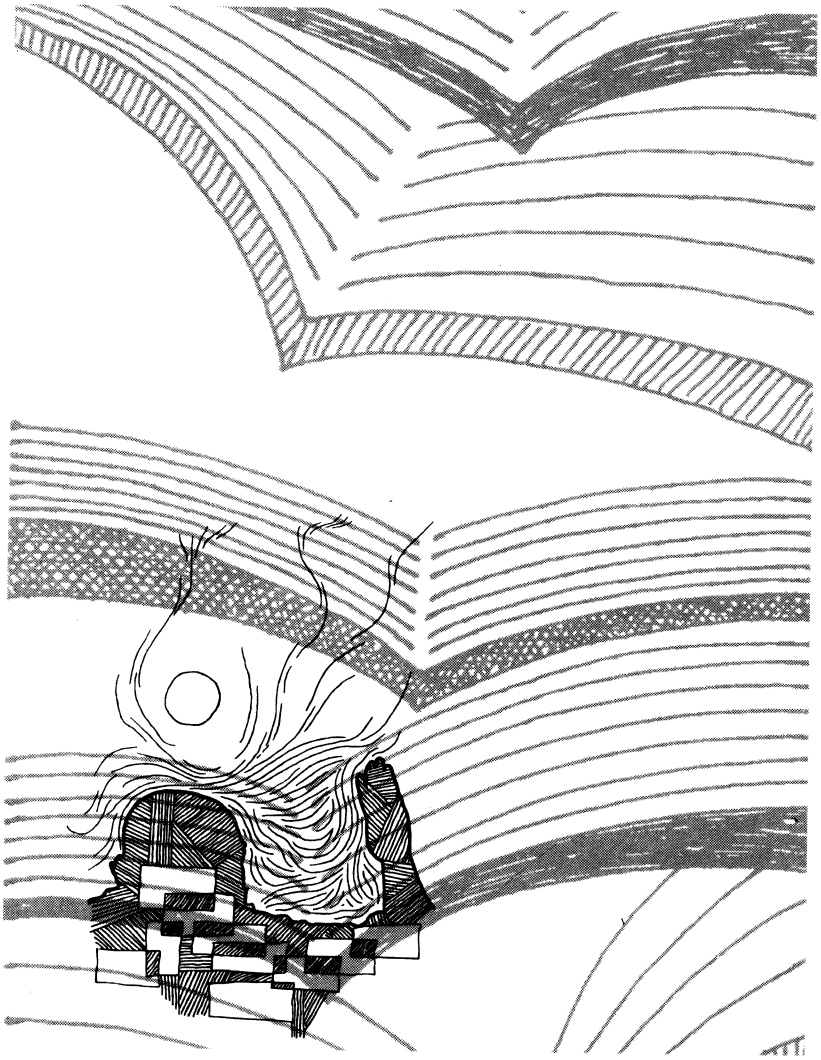

अनुभूति

अतिवादी और वस्तुपरक सोच हमें भौतिक सुख की तरफ तो ले जाएगी, परंतु इससे बौद्धिक विकास नहीं होगा। यदि हम अपने अंतर्मन की आवाज नहीं सुनेंगे या सुनना आवश्यक नहीं समझेंगे तो हम मशीन की तरह हो जाएंगे और हमारी मूल्यवान भावनाएं नष्ट होने लगेंगी। हमें अपनी संवेदनाओं के प्रति भी सचेत रहना चाहिए, आखिरकार इन्हीं से तो जीवन में सरसता आती है। ध्यान के प्रशिक्षण से नकारात्मक विचार नहीं आते और सकारात्मक भावों को प्रेरणा मिलती है। इस तरह हम स्वयं ही स्वयं के विचारों को नियंत्रित करना सीखने लगते हैं।

—परमपावन दलाई लामा

मौन सत्याग्रह : दासत्व पर कुठाराघात

❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

नवोदित सूर्य की रश्मियां व्योमतल में तैरती हुई धरती पर आ रही हैं। तिमिर का सघन आवरण खंड-खंड होकर शीर्ण हो रहा है। प्रकाश के अंचल में हर पदार्थ अपने-आप को प्रकट करने के लिए उत्सुक-सा दिखाई दे रहा है। नींद की मादकता नष्ट हो रही है। जागरण का कार्य तेजी के साथ बढ़ रहा है।

चंपा के नागरिकों ने जाग कर देखा, उनकी नगरी शत्रु की सेना से घिर गई है। वे इस आकस्मिक आक्रमण से आश्चर्य-स्तब्ध हैं—'यह किसकी सेना है? इसने किस हेतु से हमारी नगरी पर घेरा डाला है? क्या पहले कोई दूत आया था? क्या हमारे राज्य की सेना इस आकस्मिक आक्रमण के लिए तैयार है?'—यत्र-तत्र ये प्रश्न पूछे जाने लगे। पर, इनका समुचित उत्तर कौन दे?

राजा दधिवाहन वहां उपस्थित नहीं था। वह सुभद्र की सहायता के लिए गया हुआ था।

सुभद्र छोटा राजा था। वह चंपा की अधीनता में अपना शासन चलाता था। उसने अपनी रूपसी कन्या की सगाई अहिच्छत्रा के राजकुमार के साथ कर दी। भद्दिला के राजा मदनक को यह प्रिय नहीं लगा। वह उस कन्या को अपने अंतःपुर में लाना चाहता था। उसने सुभद्र को युद्ध की चुनौती दे दी। सुभद्र ने दधिवाहन की सहायता चाही। दधिवाहन अपनी सेना के साथ रणभूमि में पहुंच गया।

वत्स देश का अधिपति शतानीक अंग देश को अपने राज्य में विलीन करने का स्वप्न संजोए बैठा था। एक बार अंग देश की सेना ने उसका स्वप्न भंग कर दिया था, इसका भी उसके मन में रोष था।

शतानीक का सेनापति काकमुख धारिणी के स्वयंवर में असफल हो चुका था। दधिवाहन की सफलता पर उसे ईर्ष्या हो गई। धारिणी के प्रति उसके मन में अब भी आकर्षण था। शतानीक की स्वप्न-पूर्ति और काकमुख की प्रतिशोध-भावना को एक साथ अवसर मिला। काकमुख के संचालन में वत्स की सेना ने स्थल और जल—दोनों ओर से चंपा पर

शांति, सह-अस्तित्व और समन्वय के लिए आज विश्व के हर क्षेत्र से आवाज उठ रही है। यदि हम अपने इतिहास में झांके तो भगवान महावीर ने संभवतः सबसे पहले यह आवाज उठाई। अनेकांत और अपरिग्रह के उनके सिद्धांत से वे सभी बातें सहज ही सिद्ध हो सकती हैं, जिनके लिए आज संपूर्ण विश्व चिंतित है। भगवान महावीर ने एक ओर अनेकांत, अपरिग्रह व अहिंसा के सिद्धांत को जीवन-व्यवहार का अंग बनाने की बात कही और दूसरी ओर महिला स्वातंत्र्य के लिए भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। स्त्री-सम्मान और दासत्व-मुक्ति के लिए भगवान महावीर से पूर्व कुछ सार्थक हुआ हो, प्रतीत नहीं होता। अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस का प्रस्ताव भी सन् 1910 का है। भगवान महावीर का काल इस्वी पूर्व 599 का है। शांति की संस्कृति के अभिरक्षण में स्त्री-शक्ति एक ठोस आधार हो सकती है, यह निर्विवाद है। यह एक श्रेयस संयोग है कि इस माह भगवान महावीर की जयंती (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, 31 मार्च) व अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) साथ-साथ हैं। अवसर विशेष पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह विचारपूर्ण व मनभावन आलेख जैन भारती के पाठकों के लिए—

आक्रमण कर दिया। राजा उपस्थित नहीं था। चंपा की सेना इस आकस्मिक आक्रमण से हतप्रभ हो गई। वह युद्ध के लिए तैयार नहीं थी। फिर भी उसने प्रतिरोध किया, किंतु वत्स की सुसज्जित सेना का वह लंबे समय तक सामना नहीं कर सकी। राजधानी के द्वार शत्रु सैनिकों के लिए खुल गए। काकमुख के प्रतिशोध की आग बुझी नहीं। उसने चंपा को लूटने की स्वीकृति दे दी। वत्स के सैनिक चंपानगरी पर टूट पड़े।

उन्होंने किसी भी प्रासाद को शेष नहीं छोड़ा। वे राजप्रासाद में भी पहुंच गए। काकमुख ने रानी धारिणी और उसकी कन्या वसुमती का अपहरण कर लिया।

सैनिक अपनी-अपनी बहादुरी बखानते लौट रहे थे। यह मानव-जाति का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यों को लूट कर प्रसन्नता का अनुभव करता है, दूसरों को अशांति की भट्ठी में झोंक कर शांति का अनुभव करता है।

चंपा के नागरिकों ने क्या अपराध किया था? उन्होंने शतानीक या उसकी सेना का क्या बिगाड़ा था? उनका अपराध यही था कि वे विजेता देश के नागरिक नहीं थे, पराजित देश के नागरिक थे। शक्तिहीनता क्या कम अपराध है? शक्तिहीन निरपराध को हमेशा अपराधी के कठघरे में खड़ा होना पड़ा है। दधिवाहन की सेना शतानीक की सेना के सामने अल्पवीर्य थी। शतानीक की सेना पूरी सज्जा के साथ आक्रामक होकर आई थी। दधिवाहन की सेना युद्ध के लिए तैयार नहीं थी। प्रमाद क्या कम अपराध है? जो अपने दायित्व के प्रति जागरूक नहीं होता, उसे सदा यातनाएं झेलनी पड़ी हैं।

विजेता का उन्माद शक्ति-प्रदर्शन किए बिना कब शांत होता है? इस अ-हेतुक शक्ति-प्रदर्शन में हजारों-हजारों नागरिकों को काल-रात्रि भुगतनी पड़ी। फिर राजप्रासाद कैसे बच पाता और कैसे बच पाता उसका अंतःपुर? धारिणी और वसुमती को उसी मानवीय क्रूरता के अट्टहास का शिकार होना पड़ा।

भगवान उसके सामने जाकर रुके। उन्होंने देखा, यह वही वसुमती है, जिसके दैन्य की प्रतिमा मेरे मानस में अंकित है। केवल आंसू नहीं हैं। भगवान वापस मुड़े। चंदना की आशा पर तुषारापात हो गया। उसके पैरों से धरती खिसक गई। आंखों से आंसू की धार बह चली। वह करुण स्वर में बोली—'भगवन! मेरा विश्वास था, तुम नारी जाति के उद्धारक हो, दास-प्रथा के निवारक हो। पर, मेरे हाथ से आहार न लेकर तुमने मेरे विश्वास को झुठला दिया। इस दीन-दशा में मैं तुम्हें ही अपना मानती थी। तुम मेरे नहीं हो, यह तुमने प्रमाणित कर दिया। बुरे दिन आने पर कौन किसका होता है! मैंने इस शाश्वत को क्यों भुला दिया?'

काकमुख ने अपने पराक्रम का बखान इन शब्दों में किया—'मैंने धन की ओर ध्यान नहीं दिया। मैं सीधा राजप्रासाद में पहुंचा। वहां मेरा कुछ प्रतिरोध भी हुआ। पर मैं उसे चीरकर अंतःपुर में पहुंच गया और महारानी को ले आया। मुझे पत्नी की आवश्यकता है। यह मेरी पत्नी होगी। एक कन्या को भी ले आया हूं। यदि धन आवश्यक होगा तो उसे बेच दूंगा।'

काकमुख की बातें सुन महारानी का सुकुमार मन उद्वेलित हो गया। उसके हृदय पर तीव्र आघात लगा। वह मूर्च्छित हो गई। वसुमती ने अपनी मां को सचेत करने का प्रयत्न किया। पर उसकी मूर्च्छा नहीं टूटी। उसके हृदय की गति व्यथा को रोकने में अक्षम होकर स्वयं रुक गई। काकमुख ने महारानी का अपहरण किया और उसकी वाणी ने महारानी के प्राणों का अपहरण कर लिया। अब शेष रह गया, उसका निष्प्राण और निस्पंद शरीर।

महारानी के महाप्रयाण ने काकमुख का हृदय बदल दिया। उसकी आंखें खुल गईं। उसका मानवीय रूप जाग उठा। उसने अपने कार्य के प्रति सोचा। उसे लगा, जैसे महारानी का अपहरण करते समय वह उन्माद में धुत्त था। प्रत्येक आवेश मनुष्य को धुत्त कर देता है। अब उन्माद के उतर जाने पर उसे अपनी और अपने साथियों की चेष्टा की व्यर्थता का अनुभव हो रहा है। उन्माद की समाप्ति पर हर आदमी ऐसा ही अनुभव करता है। पर, जो होना होता है वह तो उन्माद की छाया में हो जाता है, फिर मूर्च्छा-भंग घटित घटना का पाप-प्रक्षालन कैसे कर सकता है?

काकमुख का दायां हाथ पाप के रक्त से रंजित हो गया। उसका बायां हाथ अभी बच रहा था। वह उसके रक्त-रंजित होने की आशंका से भयभीत हो उठा। उसने वसुमती के सामने अपनी अधमता को उघाड़ कर रख दिया। उसकी अश्रुपूरित आंखों में क्षमा की मांग सजीव हो उठी। हताश काकमुख व्यथित वसुमती को साथ लिए कौशांबी पहुंच गया।

× × ×

वह युग मनुष्य के विक्रय का युग था। आज हमें पशु-विक्रय स्वाभाविक लगता है। उस युग में मनुष्य-विक्रय इतना ही स्वाभाविक था। बिका हुआ मनुष्य दास बन जाता और वह खरीददार की चल-संपत्ति हो जाता। उस युग में मनुष्य का मूल्य आज जितना नहीं था। आज का मनुष्य पशु की श्रेणी से ऊंचा उठ गया है। इस आरोहण में दीर्घ तपस्वी महावीर की तपस्या का योग कम नहीं है।

काकमुख वसुमती को लेकर मनुष्य विक्रय के बाजार में उपस्थित हो गया। बाजार में बड़ी चहल-पहल है। सैकड़ों आदमी बिकने के लिए खड़े हैं। विक्रेताओं और क्रेताओं के बीच बोलियां लग रही हैं।

वसुमती राजकन्या थी। उसका रूप-लावण्य मुस्करा रहा था। यौवन उभार की दहलीज पर पैर रखे खड़ा था। इतनी रूपसी और शालीन कन्या की बिक्री! सारा बाजार स्तब्ध रह गया।

हर ग्राहक ने वसुमती को खरीदना चाहा। पर उसका मोल इतना अधिक था कि उसे कोई खरीद नहीं सका।

उस समय श्रेष्ठी धनावह उधर से जा रहा था। उसने वसुमती को देखा। वह अवाक् रह गया। उसे कन्या की कुलगरिमा और वर्तमान की दयनीय परिस्थिति—दोनों की कल्पना हो गई। उसका हृदय करुणा से भर गया। वह भारी कीमत चुका कर कन्या को अपने घर ले आया।

श्रेष्ठी ने मृदु स्वर में कहा—'पुत्री! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूं।' वसुमती की मुख-मुद्रा गंभीर हो गई। वह कुछ नहीं बोली। श्रेष्ठी ने फिर अपनी बात दोहराई। वसुमती फिर मौन रही। उसने तीसरी बार फिर पूछा, तब वसुमती ने इतना ही कहा—'मैं आपकी दासी हूं। इससे अधिक मेरा परिचय कुछ नहीं है।' उसकी आंखों से अश्रुधारा बह चली। श्रेष्ठी का दिल पसीज गया। उसने बात का सिलसिला तोड़ दिया।

श्रेष्ठी धनावह की पत्नी का नाम था मूला। वह वसुमती को देख आश्चर्य में पड़ गई। धनावह ने उससे कहा—'तुम्हारे लिए पुत्री लाया हूं। इसका ध्यान रखना।'

वसुमती के स्वभाव और व्यवहार ने समूचे घर को मोहित कर लिया। उसने धनावह के घर में दासी के रूप में पैर रखा था, पर अपनी विशिष्टता के कारण वह पुत्री बन गई। शील की सुगंध और शीतलता ने उसे वसुमती से चंदना बना दिया।

चंदना का दिन-दिन निखरता सौंदर्य अन्य युवतियों के मन में ईर्ष्या भरने लगा। एक दिन मूला के मन में आशंका के बादल उमड़ आए। वह सोचने लगी, श्रेष्ठी चंदना के बारे में सही बात नहीं बता रहे हैं। वे इसके प्रति बहुत आकृष्ट हैं। कहीं धोखा न हो जाए! इसके साथ विवाह न कर लें! यदि कर लिया तो फिर मेरी क्या गति होगी?—इन अर्थशून्य विकल्पों ने मूला को विक्षिप्त-जैसा बना दिया।

जिसे अपने-आप पर भरोसा नहीं होता, उसके लिए पग-पग पर विक्षेप की परिस्थिति निर्मित हो जाती है। मनुष्य अपनी शक्ति के सहारे जीना क्यों पसंद नहीं करता? उसे अपनी ओर निहारना क्यों नहीं अच्छा लगता? दूसरों की ओर निहार कर क्या वह अपनी शक्ति को कुंठा की कारा में कैद नहीं कर देता? पर यह मानवीय दुर्बलता है। इस दुर्बलता से उबारने के लिए ही भगवान महावीर ने आत्म-दीप की लौ जलाई थी।

मध्याह्न का सूर्य पूरी तीव्रता से तप रहा था। धरती का हर कोना प्रकाश की आभा से चमक उठा था। हर मनुष्य का शरीर प्रस्वेद की बूंदों से अभिषिक्त हो रहा था। उस समय धनावह बाजार से छुट्टी पाकर घर आया। नौकर सब चले गए थे। पैर धोने के लिए जल लाने वाला भी कोई नहीं था। पूरा घर खाली था। चंदना ने श्रेष्ठी को देखा। वह पानी लेकर पैर धुलाने आई। श्रेष्ठी ने उसे रोका। पर वह आग्रहपूर्वक श्रेष्ठी के पैर धोने लगी। उस समय उसकी केश-राशि विकीर्ण होकर भूमि को छूने लगी। उसे कीचड़ से बचाने के लिए श्रेष्ठी ने उसे अपने लीला-काष्ठ से उठा लिया और व्यवस्थित कर दिया। मूला वातायन में बैठी-बैठी यह सब देख रही थी। श्रेष्ठी के मन में कोई पाप नहीं था और चंदना का मन भी निष्पाप था। पाप भरा था मूला के मन में। वह जाग उठा।

धनावह विश्राम कर फिर बाजार में चला गया। मूला घर के भीतर आई। नौकर को भेज कर नाई को बुलाया। चंदना का सिर मुंडवा दिया। हाथ-पैरों में बेड़ियां डाल दीं। एक ओरे में बिठा, उसका दरवाजा बंद कर ताला लगा दिया। दास-दासियों को कड़ा निर्देश दे दिया कि इस घटना के बारे में श्रेष्ठी को कोई कुछ भी न कहे और न चंदना की उपस्थिति का अता-पता बताए।

यदि किसी ने इस निर्देश की अवहेलना की तो उसके प्राण सुरक्षित नहीं होंगे।

इतना निर्देश दे वह मायके चली गई।

अपराह्न के भोजन का समय। श्रेष्ठी घर पर आया। भोजन के समय चंदना पास रहती थी। आज वह दिखाई नहीं दी। श्रेष्ठी ने पूछा, मूला कहां है? चंदना कहां है? सबसे एक ही उत्तर मिला, सेठानी मायके गई हैं। चंदना का पता नहीं। श्रेष्ठी ने सोचा—चंदना कहीं क्रीड़ा कर रही होगी या प्रासाद के ऊपरी कक्ष में बैठी होगी।

श्रेष्ठी दुकान के कार्य से निवृत्त होकर रात को फिर घर आया। चंदना को वहां नहीं देखा। फिर पूछा और वही उत्तर मिला। श्रेष्ठी ने सोचा, जल्दी सो गई होगी। दूसरे दिन भी उसे नहीं देखा। श्रेष्ठी ने उसी कल्पना से अपने मन का समाधान कर लिया। तीसरे दिन भी वह दिखाई नहीं दी। तब श्रेष्ठी गंभीर हो गया। उसने दास-दासियों को एकत्र कर कहा—'बताओ, चंदना कहां है?'—वे सब दुविधा में पड़ गए। बताएं तो मौत और न बताएं तो मौत। एक ओर सेठानी का भय और दूसरी ओर श्रेष्ठी का भय। उन्हें सूझ नहीं रहा था कि वे क्या करें? एक बूढ़ी दासी ने साहस बटोर कर सबकी समस्या सुलझा दी। जो मृत्यु के भय को चीर देता है, वह अपनी ही नहीं, अनेकों की समस्या सुलझा देता है। उस स्थविरा दासी ने कहा—'चंदना इस ओरे में बंद है।'

—'यह किसने किया?' संभ्रम के साथ श्रेष्ठी ने पूछा।

—'इसका उत्तर आप हमसे क्यों पाना चाहते हैं?' स्वर को कुछ उद्धत करते हुए स्थविरा दासी ने कहा।

श्रेष्ठी बात की गहराई तक पहुंच गया। उसने तत्काल दरवाजा खोला। बादलों की घोर घटा एक ही क्षण में फट गई। निरभ्र आकाश में सूर्य की भांति चंदना का भाल ज्योति विकीर्ण करने लगा।

—'यह क्या हुआ, पुत्री! मैंने कल्पना ही नहीं की थी कि तुम्हारे साथ कोई ऐसा व्यवहार करेगा?'

—'पिताजी! किसी ने कुछ नहीं किया। यह सब मेरे ही किसी अज्ञात संस्कार का सृजन है।'

चंदना की उदात्त भावना और स्नेहिल वाणी ने श्रेष्ठी को शांत कर दिया। वह बोला—'मैं बहुत दुखी हूं पुत्री! तुम तीन दिन से भूखी-प्यासी हो।'

—'कुछ नहीं, अब खा लूंगी।'

श्रेष्ठी ने रसोई में जाकर देखा, भोजन अभी बना नहीं है। भात बचे हुए नहीं हैं। केवल उबले हुए थोड़े उड़द बच रहे हैं। उसने शूर्प के कोने में उन्हें डाला और चंदना के सामने लाकर रख दिया।

—'पुत्री! तुम खाओ। मैं लुहार को साथ लिये आता हूं।' इतना कह कर श्रेष्ठी घर से बाहर चला गया।

× × ×

भगवान महावीर वैशाली और कौशांबी के मध्यवर्ती गांवों में विहार कर रहे थे। उन्हें पता चला कि शतानीक ने विजयादशमी का उत्सव चंपा को लूट कर मनाया है। उसके सैनिकों ने जी-भर कर चंपा को लूटा है और किसी सैनिक ने धारिणी और वसुमती का अपहरण कर लिया है। उनके सामने अहिंसा के विकास की आवश्यकता ज्वलंत हो उठी। वे इस चिंतन में लग गए कि हिंसा कितना बड़ा पागलपन है। उसका खूनी पंजा अपने सगे-संबंधियों पर भी पड़ जाता है। कौन पद्मावती और कौन मृगावती! दोनों एक ही पिता (महाराज चेटक) की प्रिय पुत्रियां। पद्मावती का घर उजड़ा तो उससे मृगावती को क्या सुख मिलेगा? पर, हिंसा के उन्माद में उन्मत्त ये राजे बेचारी स्त्रियों की बात कहां सुनते हैं? ये अपनी मनमानी करते हैं।

शक्तिशाली राजा शक्तिहीन राजाओं पर आक्रमण कर उसका राज्य हड़प लेते हैं। यह कितनी गलत परंपरा है। वे जान-बूझकर इस गलत परंपरा को पाल रहे हैं। क्या शतानीक अजर-अमर रहेगा? क्या वह सदा इतना शक्तिशाली रहेगा? कौन जानता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य पर क्या बीतेगी? ये राजा अहं से अंधे होकर यथार्थ को भुला देते हैं। इस प्रकार की घटनाएं मुझे प्रेरित कर रही हैं कि मैं अहिंसा का अभियान शुरू करूं।

भगवान को फिर पता चला कि महारानी धारिणी मर गई और वसुमती दासी का जीवन जी रही है। इस घटना का उनके मन पर गहरा असर हुआ। नारी-जाति की दयनीयता और दास्य कर्म—दोनों का चित्र उनकी आंखों के सामने उभर आया। उन्होंने मन-ही-मन इसके अहिंसक प्रतिकार की योजना बना ली।

साधना का बारहवां वर्ष चल रहा था। भगवान कौशांबी आ गए। पौष मास का पहला दिन। भगवान ने

संकल्प किया—'मैं दासी बनी हुई राजकुमारी के हाथ से ही भिक्षा लूंगा, जिसका सिर मुंडा हुआ हो, हाथ-पैरों में बेड़ियां हों, तीन दिन की भूखी और आंखों में आंसू हों, जो दहलीज के बीच में खड़ी हो और जिसके सामने शूर्प के कोने में उबले हुए थोड़े-से उड़द पड़े हों।' (आवश्यकचूर्णि, पूर्वभाग, पृ. 316, 317।)

चंदना का यह चित्र भगवान के प्रातिभज्ञान में अंकित हो गया। दासी के इस वीभत्स रूप में ही उन्हें चंदना के उज्ज्वल भविष्य का दर्शन हो रहा था।

भगवान कौशांबी के घरों में भिक्षा लेने गए। लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें भोजन देना चाहा। पर, भगवान उसे लिए बिना ही लौट आए। दूसरे दिन भी यही हुआ। तीसरे-चौथे दिन भी यही हुआ। लोगों में बातचीत का सिलसिला प्रारंभ हो गया। भगवान भिक्षा के लिए घरों में जाते हैं, पर भोजन लिए बिना ही लौट आते हैं, यह क्यों? यह प्रश्न बार-बार पूछा जाने लगा।

चार मास बीत गए। भगवान का सत्याग्रह नहीं टूटा। कौशांबी के नागरिक यह जानते हैं कि भगवान भोजन नहीं कर रहे हैं, पर यह नहीं जान पाए कि वे भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं? भगवान इस विषय पर मौन हैं। उनका मौन-संकल्प दिन-दिन सशक्त होता जा रहा है।

सुगुप्त कौशांबी का अमात्य है। उसकी पत्नी का नाम है नंदा। वह श्रमणों की उपासिका है। भगवान भिक्षा के लिए उसके घर पधारे। उसने भोजन लेने का बहुत आग्रह किया, पर भगवान ने कुछ भी नहीं लिया। नंदा मर्माहत-सी हो गई। तब उसकी दासी ने कहा—'सामिणी! इतना दुःख क्यों? यह तपस्वी कौशांबी के घरों में सदा जाता है पर कुछ लिए बिना ही वापस चला आता है। चार महीनों से ऐसा ही हो रहा है, फिर आप इतना दुख क्यों करती हैं?'

दासी की यह बात सुन उसका अंतस्तल और अधिक व्यथित हो गया।

अमात्य भोजन के लिए घर आया। वह नंदा का उदास चेहरा देख स्तब्ध रह गया। उसने उदासी का कारण खोजना चाहा, पर कुछ समझ नहीं पाया।

नंदा की गंभीरता पल-पल बढ़ रही थी। उसकी आकृति पर भावों की रेखा उभरती और मिटती जा रही थी। अमात्य ने आखिर पूछ लिया—'प्रिये! आज इतनी उदासी क्यों है?'

—'बताने का कोई अर्थ हो तो बताऊं, अन्यथा मौन ही अच्छा है।'

—'बिना जाने अर्थ या अनर्थ का क्या पता लगे?'

—'क्या अमात्य का काम समग्र राज्य की चिंता करना नहीं है?'

—'अवश्य है?'

—'क्या आपको पता है, राजधानी में क्या घटित हो रहा है?'

—'मुझे पता है कि समूचे देश में और उसके आस-पास क्या घटित हो रहा है।'

'इसमें आपका अहं बोल रहा है, वस्तुस्थिति यह नहीं है। क्या आपको पता है, इन दिनों भगवान महावीर कहां हैं?'

—'मैं नहीं जानता, किंतु जानना चाहता हूं।'

—'भगवान हमारे ही नगर में विहार कर रहे हैं।'

—'तब तो तुम्हें प्रसन्नता होनी चाहिए, उदासी क्यों?'

—'भगवान की उपस्थिति मेरे लिए प्रसन्नता का विषय है, किंतु यह जानकर मैं उदास हो गई कि भगवान चार महीनों से भूखे हैं।'

—'तपस्या कर रहे होंगे!'

—'तपस्या होती तो वे भिक्षा के लिए नहीं निकलते। वे प्रतिदिन अनेक घरों में जाते हैं, किंतु कुछ लिए बिना ही वापस चले आते हैं।'

—'हमारे गुप्तचरों ने यह सूचना कैसे नहीं दी?'—अमात्य ने भृकुटि तानते हुए कहा—'और मैं सोचता हूं कि महाराज शतानीक को भी इसका पता नहीं है, और मेरा खयाल है कि महारानी मृगावती भी इस घटना से परिचित नहीं हैं। मैं अवश्य ही इस घटना के कारण का पता लगाऊंगा।'

प्रतिहारी विजया महारानी के कक्ष में उपस्थित हो गई। महारानी ने उसकी भाव-भंगिमा देख उसकी उपस्थिति का कारण पूछा। वह बोली—'देवी! मैं नंदा के घर पर एक महत्त्वपूर्ण बात सुन कर आई हूं। क्या आप उसे जानना चाहेंगी?'

—'उसका किससे संबंध है?'

—'भगवान महावीर से।'

—'तब अवश्य सुनना चाहूंगी।'

विजया ने नंदा के घर पर जो सुना वह सब-कुछ सुना दिया। महारानी का मन पीड़ा से संकुल हो गया। कुछ देर बाद महाराज अंतःपुर में आए और वे भी महारानी की पीड़ा के संभागी हो गए।

महाराज शतानीक और अमात्य सुगुप्त ने इस विषय पर मंत्रणा की। उन्होंने उपाध्याय तथ्यवादी को बुलाया। वह बहुत बड़ा धर्मशास्त्री और ज्ञानी था। महाराज ने उसके सामने समस्या प्रस्तुत की। पर वह कोई समाधान नहीं दे सका।

महाराज खिन्न हो गए। उन्होंने उद्धत स्वर में कहा—'अमात्यवर! मुझे लगता है कि हमारा गुप्तचर विभाग निकम्मा हो गया है। मैं जानना चाहता हूं, इसका उत्तरदायी कौन है? क्या मेरा अमात्य इतनी बड़ी घटना की जानकारी नहीं दे पाता? क्या मेरा अधिकारी-वर्ग इतना भी नहीं जानता कि महारानी महाश्रमण पार्श्वनाथ की शिष्या हैं? क्या वह नहीं जानता कि भगवान महावीर महारानी के ज्ञाति हैं? भगवान हमारी राजधानी में विहार करें और उन्हें श्रमणोचित भोजन न मिले, यह सचमुच हमारे राज्य का दुर्भाग्य है। अमात्यवर! तुम शीघ्रातिशीघ्र ऐसी व्यवस्था करो जिससे भगवान भोजन स्वीकार करें।'

अमात्य भगवान के चरणों में उपस्थित हो गया। उसने महाराज, महारानी, अपनी पत्नी और समूचे नगर की हार्दिक भावना भगवान के सामने प्रस्तुत की और भोजन स्वीकार करने का विनम्र अनुरोध किया। किंतु, भगवान का मौन-भंग नहीं हुआ। अमात्य निराश हो अपने घर लौट आया।

× × ×

भगवान की चर्या उसी क्रम में चलती रही। प्रतिदिन घरों में जाना और कुछ लिए बिना वापस चले आना। लोग हैरान थे। समूचे नगर में इस बात की चर्चा फैल गई। पांचवां महीना पूरा का पूरा उपवास में बीत गया। छठे महीने के पचीस दिन चले गए।

नगर के लोग भगवान के भोजन का समाचार सुनने को पल-पल अधीर थे। उनकी उत्सुकता अब अधीरता में बदल गई थी। सब लोग अपना-अपना आत्मालोचन कर रहे थे। महाराज शतानीक ने भी आत्मालोचन किया। कौशांबी पर आक्रमण और उसकी लूट का पाप उनकी आंखों के सामने आ गया। महाराज ने सोचा—हो सकता है, भगवान मेरे पापों का प्रायश्चित्त कर रहे हों।

× × ×

चंदना को अतीत की स्मृति हो आई। उसे अपना वैभवपूर्ण जीवन स्वप्न-सा लगने लगा। वह चंपा के प्रासाद की स्मृतियों में खो गई। वे उड़द उसके सामने पड़े रहे।

आज छठे महीने का छब्बीसवां दिन था। भगवान महावीर मधुकरी के लिए निकले। अनेक लोग उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। भगवान धनावह के घर में गए। वे रसोई में नहीं रुके। सीधे चंदना के सामने जा ठहरे। वह दहलीज के बीच बैठी थी। उसे किसी के आने का आभास मिला। वह खड़ी हो गई। उसने सामने देखे बिना ही कल्पना की, पिताजी लुहार को लेकर आ गए हैं। अब मेरे बंधन टूट जाएंगे।

पर, उसके सामने तो जगतपिता खड़े हैं। उसकी आंखें सामने की ओर उठीं और उसका अंतःकरण बोल उठा—ओह! भगवान महावीर आ रहे हैं।

वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो गई। उसकी आंखों में ज्योति-दीप जल उठे। उसका कण-कण प्रसन्नता से नाच उठा। वह विपदा को भूल गई।

भगवान उसके सामने जाकर रुके। उन्होंने देखा, यह वही वसुमती है, जिसके दैन्य की प्रतिमा मेरे मानस में अंकित है। केवल आंसू नहीं हैं। भगवान वापस मुड़े। चंदना की आशा पर तुषारापात हो गया। उसके पैरों से धरती खिसक गई। आंखों से आंसू की धार बह चली। वह करुण स्वर में बोली—'भगवन! मेरा विश्वास था, तुम नारी जाति के उद्धारक हो, दास-प्रथा के निवारक हो। पर, मेरे हाथ से आहार न लेकर तुमने मेरे विश्वास को झुठला दिया। इस दीन-दशा में मैं तुम्हें ही अपना मानती थी। तुम मेरे नहीं हो, यह तुमने प्रमाणित कर दिया। बुरे दिन आने पर कौन, किसका होता है! मैंने इस शाश्वत को क्यों भुला दिया?'

चंदना का मन आत्म-ग्लानि से भर गया। वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

भगवान ने मुड़ कर देखा—मेरे संकल्प की शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं। वे फिर चंदना के सामने जा खड़े हुए। उसने उबले हुए उड़द का आहार भगवान को दिया। उसके मन में हर्ष का इतना अतिरेक हुआ कि उसके बंधन टूट गए। उसका शरीर पहले से अधिक चमक उठा।

भगवान ने धनावह श्रेष्ठी की दासी के हाथ से आहार ले लिया—यह बात बिजली की भांति सारे नगर में फैल गई। हजारों-हजारों लोग धनावह के घर के सामने एकत्र हो गए। दासवर्ग हर्ष के मारे उछलने लगा। महाराज शतानीक भी वहां पहुंच गए। महारानी मृगावती उनके साथ थी। नंदा हर्ष से उत्फुल्ल हो रही थी। अमात्य भी एक बहुत बड़ी चिंता से मुक्त हो गया।

धनावह लुहार को साथ लिए अपने घर पहुंचा। वह अनेक प्रकार की बातें सुन रहा था। उसका मन आश्चर्य से आंदोलित हो गया। उसने भीतर जाकर देखा—चंदना दिव्य-प्रतिमा की भांति अचल खड़ी है। वह हर्ष-विभोर हो गया।

अब चंदना के बारे में लोगों की जिज्ञासा बढ़ी। वे उसके दर्शन को लालायित हो उठे। वह घर से बाहर आई। चंदना की जय-जयकार के स्वर में जनता का तुमुल विलीन हो गया।

संपुल महाराज दधिवाहन का कंचुकी था। चंपा-विजय के समय महाराज शतानीक उसे बंदी बना कौशांबी ले आए थे। वह आज ही राजाज्ञा से मुक्त हुआ था। वह महाराज के साथ आया। उसने चंदना को पहचान लिया। वह दौड़ा। चंदना के पैरों में नमस्कार कर रोने लगा। चंदना ने उसे आश्वस्त किया। दोनों एक-दूसरे को देख अतीत के गहरे चिंतन में खो गए।

महाराज ने कंचुकी से पूछा—'यह कन्या कौन है?'

कंचुकी ने कहा—'महाराज दधिवाहन की पुत्री वसुमती है।'

मृगावती बोली—'तब तो यह मेरी बहिन की पुत्री है।'

महाराज ने चंदना से राजप्रासाद में चलने का आग्रह किया। उसने उसे ठुकरा दिया। महारानी ने फिर बहुत आग्रह किया। चंदना ने उसे फिर ठुकरा दिया। महारानी ने चंदना की ओर मुड़कर पूछा—'तुम हमारे प्रासाद में क्यों नहीं चलना चाहती?'

—'दासी की अपनी कोई चाह नहीं होती।'

—'तुम दासी कैसे?'

—'यह तो महाराज शतानीक ही जानें, मैं क्या कहूं?'

महाराज का सिर लज्जा से झुक गया। उसे अपने युद्धोन्माद पर पछतावा होने लगा। वह चंदना के दासी बनने का कारण समझ गया। उसने धनावह को बुलाया। चंदना सदा के लिए दासी-जीवन से मुक्त हो गई।

भगवान का मौन सत्याग्रह दासी का मूल्य बढ़ाकर दासत्व की जड़ पर तीव्र कुठाराघात कर गया। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

सूख रही हैं संवेदनाएं

❑

साध्वी मुदितयशा

सड़क पर दौड़ते वाहनों की एक लंबी कतार। अकस्मात दो वाहन परस्पर टकराए। एक निर्दोष महिला चपेट में आ गई। सड़क पर खून की धारा बह चली। अनेक लोगों ने इस दृश्य को देखा, उसकी करुण चीत्कार को सुना। पर, सहायता के लिए एक भी व्यक्ति आगे नहीं आया। चंद पलों तक वह युवती जिंदगी और मौत के बीच झूलती रही। आखिर उसने वहीं दम तोड़ दिया।

सरेआम एक नवयुवक की छुरा घोंपकर हत्या कर दी गई। पूर्व में वह जिधर भी भागा, हत्यारे उसका पीछा करते रहे। आखिर उसे असमय ही मौत के मुंह में जाना पड़ा। इस हत्याकांड के अनेक लोग प्रत्यक्ष साक्षी बने, पर कोई कुछ बोलने के लिए तैयार नहीं। सब तरफ एक मौन-सन्नाटा। एक गहरी खामोशी।

ऐसी घटनाएं आए दिन होती रहती हैं। अनेक घटनाएं अखबारों की सुर्खियां बनती हैं। कुछ समय बीतता है, घटनाएं स्मृतियों से धुंधला जाती हैं।

किसी भी समाज के विकास का प्राणतत्त्व है—सापेक्षता। जहां सापेक्षता होती है, वहां संवेदनाओं को पनपने के लिए उर्वर भूमि स्वतः मिल जाती है। आज सापेक्षता का सही मूल्यांकन नहीं होने से हमारी सोच स्वकेंद्रित ज्यादा बन गई है। हमें क्या? हम क्यों हस्तक्षेप करें?—इस भाषा ने उपेक्षा की संस्कृति को जन्म दिया है। फलतः जीवन की सरसता और समरसता के आगे प्रश्नचिह्न लग गया है। जिस समाज में उपेक्षा का भाव प्रखर होता है, वहां न गलती को रोकने का प्रयास होता है और न ही अच्छाई को प्रोत्साहन दिया जाता है। वहां एक तटस्थ मौन व्याप्त होने लगता है। उपेक्षा की संस्कृति ने संवेदनशून्य, मूल्यविहीन जीवन-शैली को आंच दी है।

करोड़ों लोग भूखे सोते हैं। एक तरफ सरकारी गोदामों में अनाज सड़ रहा है तो दूसरी तरफ देश के विभिन्न भागों में लोग भूख के कारण कालकवलित हो रहे हैं। किसान पूरी फसल न होने के कारण कर्ज के बोझ तले दबकर आत्महत्याएं कर रहे हैं। अनेक लोग उपयुक्त चिकित्सा के अभाव में पीड़ा और संत्रास का जीवन जीने को मजबूर बने हुए हैं। इस सारे परिदृश्य को देखकर भी हम चुप्पी साधकर बैठे हैं। क्यों? क्यों सूख रही हैं हमारी संवेदनाएं? कहां खो गई हमारे संस्कारों की मूल्यवान विरासत?

वर्तमान युग में भौतिक संसाधन विकास के चरम प्रकर्ष पर हैं। पचास वर्ष पूर्व जिस विषय में सोचना भी नामुमकिन लगता था, आज वह जागती आंखों का सच बन चुका है। 'इंटरनेट' और 'सूचना प्रौद्योगिकी' के इस युग में सारा विश्व सिमट कर एक छोटा-सा गांव बन गया है। विज्ञान ने न केवल जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा किया है, बल्कि ऐशो-आराम के साधन भी हमें उपलब्ध

कराए हैं। कृषि हो या परिवहन, खान-पान हो या स्वास्थ्य—कोई भी क्षेत्र विज्ञान के प्रभाव से अछूता नहीं है। विज्ञान ने ब्रह्मांड के अनेक अबूझ रहस्यों को सुलझाया है, हमें एक नई सोच प्रदान की है। विज्ञान से विकसित प्रौद्योगिकी का ही परिणाम है कि अनेक ऐसी वस्तुएं सुलभ बन गई हैं, जो पहले अतिसीमित थीं।

मनुष्य एक छोर से दूसरे छोर पर होने वाली हर गतिविधि से परिचित रहता है। हर अच्छी-बुरी घटना को साक्षात देखा और अनुभव किया जा सकता है। विकास की एक सुंदर और लुभावनी तस्वीर हमारे सामने है। इस सबके बावजूद संवेदना व करुणा का 'ग्राफ' नीचे आया है। स्वार्थ ने मनुष्य को चक्षुविहीन और विवेकशून्य बना दिया है। जब तक स्वार्थ है, तब तक रिश्ते और संबंध भी हैं और स्वार्थ पर ज्योंही हलकी चोट पहुंची कि कांच के बर्तन की भांति संबंध टूट कर बिखर जाते हैं।

अतीत का गौरव वर्तमान के लिए सदा प्रेरणा का कार्य करता है। हम अपने अतीत के आलोक में वर्तमान की समीक्षा करें। अपनी प्राचीन दिनचर्या के एक-एक पहलू पर गौर करें, एक अलग ही परिदृश्य हमारे सामने होगा। उस समय विकास के साधन अल्पतम थे। व्यक्ति प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करता था। कठोर श्रम-साधना के उपरांत भी वह कभी थकता नहीं था। मन की प्रसन्नता उसे सदा प्रफुल्ल और तरोताजा बनाए रखती थी। संसाधनों की बहुलता न होने पर भी व्यक्ति के भीतर करुणा का दरिया लहराता था। लोग सुख और दुख, दोनों बांट-बांट कर जीते थे। 'सुख को बांटो तो वह दुगुना हो जाएगा और दुख को बांटो तो वह आधा रह जाएगा'—इस सचाई की परख शब्दों से नहीं, अनुभूति से किया करते थे। यही कारण था कि एक का सुख जहां दूसरे के लिए सुखानुभूति का निमित्त बनता, वहीं एक की पीड़ा पूरे माहौल को गमगीन बना देती। 'वसुधैव कुटुंबकम्' और 'सर्वे भवंतु सुखिनः' जैसे आदर्श जीवन-व्यवहारों में बोलते थे। उस समय मनुष्य के साथ ही नहीं, पशु-पक्षियों के साथ भी संवेदनापूर्ण व्यवहार किया जाता था। सुबह-सुबह पशुओं को चारा और पक्षियों को चुग्गा दिया जाता था। महिलाएं खाना बनातीं, तो पहली रोटी किसी पशु की होती या किसी गरीब को देतीं। राह चलता व्यक्ति भी अपनी प्यास बुझा सके, इस दृष्टि से हर थोड़ी दूरी पर प्याऊ (जलगृह) बने रहते थे। निर्धन और जरूरतमंद व्यक्ति भी अपने-आप को कभी असहाय अनुभव नहीं करता था। अपेक्षा के क्षणों में अपेक्षित सहयोग हर व्यक्ति का अवश्य किया जाए—अधिकांश लोगों में यह मानसिकता जीवित थी। परिवार के सदस्य तो मिलकर रहते ही थे, पास-पड़ोस में रहने वालों के साथ भी गहरी आत्मीयता होती थी।

भौतिकता की पदचाप के साथ ही यह सब अतीत का एक सपना-सा बन गया है। आज पशु तो क्या, मनुष्य के लिए भी संवेदना मानो सूख-सी गई है। दहेज के नाम पर बहुएं या तो जिंदा जला दी जाती हैं, या यातनापूर्ण जीवन जीने के लिए उन्हें मजबूर कर दिया जाता है। क्यों? क्योंकि आकांक्षा का उदर कभी भरता नहीं। गरीबी से तंग आकर या तो कन्या विष का घूंट पी लेती है, या फिर मां-बाप के जीवन से किनारा कर लेती है। क्यों? क्योंकि उन्हें कहीं से भी सहयोग के आसार नजर नहीं आते। ये सारी स्थितियां क्या आधुनिक विकास को खुली चुनौती नहीं हैं? हम विकास के नाम पर पदार्थों का कितना ही अंबार लगा लें, संवेदना, सहयोग आदि जीवन-मूल्यों से कटकर जीवन का असली आनंद प्राप्त नहीं कर सकते।

जीवन-मूल्यों के प्रति हमारी आस्था कमजोर क्यों हो रही है? संवेदनहीनता का 'ग्राफ' ऊपर क्यों उठ रहा है? इस संदर्भ में चिंतन करने पर कुछेक बिंदु उभर कर सामने आते हैं।

संवेदनशीलता के ह्रास का एक बड़ा कारण है—अतिव्यस्त जीवन-शैली। एक युग था, भारत की अधिसंख्य आबादी गांवों में रहती थी। परस्परता और अपनत्व का मूर्तिमान आदर्श होता था—ग्रामीण जीवन। अब गांव धीरे-धीरे खाली हो रहे हैं। लोग ग्रामीण धूलि को छोड़ शहरों की ओर भाग रहे हैं। शहरी जीवन-शैली की पहली पहचान है—व्यस्तता। शहरों में हर व्यक्ति, चाहे वह बच्चा हो या किशोर, महिला हो या पुरुष, वृद्ध हो या युवा, अपने-आप को व्यस्ततम अनुभव करता है। व्यस्तता की कोख से पैदा होता है—तनाव। एक तनावग्रस्त व्यक्ति संवेदना और सहयोग का ककहरा भी नहीं जानता। कौन, कहां, क्या कर रहा है? कौन किस परिस्थिति में जी रहा है? क्या मेरा थोड़ा-सा सहयोग किसी के जीवन को खुशियों से भर सकता है? अथवा, मेरा असहयोग और उपेक्षाभाव किसी के लिए अभिशाप तो नहीं बन जाएगा? व्यस्त और तनावग्रस्त व्यक्ति के लिए ये सारे सवाल बेमानी हो जाते हैं।

किसी भी समाज के लिए आज विकास का

प्राणतत्त्व है— सापेक्षता। जहां सापेक्षता होती है, वहां संवेदनाओं को पनपने के लिए उर्वर भूमि स्वतः मिल जाती है। आज सापेक्षता का सही मूल्यांकन नहीं होने से हमारी सोच स्वकेंद्रित ज्यादा बन गई है। हमें क्या? हम क्यों हस्तक्षेप करें?—इस भाषा ने उपेक्षा की संस्कृति को जन्म दिया है। फलतः जीवन की सरसता और समरसता के आगे प्रश्नचिह्न लग गया है। जिस समाज में उपेक्षा का भाव प्रखर होता है, वहां न गलती को रोकने का प्रयास होता है और न ही अच्छाई को प्रोत्साहन दिया जाता है। वहां एक तटस्थ मौन व्याप्त होने लगता है। उपेक्षा की संस्कृति ने संवेदनशून्य, मूल्यविहीन जीवन-शैली को आंच दी है। महाकवि दिनकर ने उपेक्षा को एक तरह का अपराध घोषित किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा—

समर शेष है नहीं पाप का भागी केवल व्याध
जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनके भी अपराध

इसी तरह महाभारत के सभापर्व में भी उल्लेख आता है कि जिस सभा या संगठन में अधर्म का आचरण होता है—उसका आधा पाप सभा के अध्यक्ष का होता है, एक चौथाई पाप के भागीदार पापाचरण करने वाले होते हैं और एक चौथाई पाप उनके हिस्से में आता है जो घटना की उपेक्षा करते हैं, जो समय पर निंदनीय कर्म की निंदा नहीं करते और गलत कर्म को रोकने का प्रयास नहीं करते।

इस प्रसंग से दो बातें उभर कर सामने आती हैं। पहली बात—हमें हर अच्छी-बुरी घटना के प्रति सतत जागरूक रहना चाहिए। दूसरी बात—गलती चाहे छोटी हो या बड़ी, उसकी कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। नेता का हर व्यवहार जनता को प्रभावित करता है। जिस व्यक्ति के हाथों में नेतृत्व की बागडोर रहती है उसका दायित्व भी बढ़ जाता है। एक प्रसिद्ध कहावत है—'महाजनो येन गतः स पंथा'—नेता जिस रास्ते से गुजरता है, वह आम-जनता के लिए पथ बन जाता है। आज हमारे बहुत-से बड़े नेता जिस तरह का व्यवहार करते हैं, उसमें स्वार्थ व प्रदर्शन का मनोभाव अधिक रहता है। पीड़ा भोग रही जनता के प्रति संवेदना कम होती है। धीरे-धीरे जनता की सोच भी यही बन जाती है कि नेतृत्व की डोर को थामने वाले हाथ भी जब निजी स्वार्थों को साधने में लगे हुए हैं तो हम अपने स्वार्थों की बलि क्यों चढ़ाएं? स्वार्थ के कीटाणु इतने शक्तिशाली होते हैं कि धीरे-धीरे अपनी संक्रामकता से पूरे समाज को जर्जर बना देते हैं। हम दूर के संबंधों की बात छोड़ दें, नजदीकी रिश्तों में भी स्वार्थ की गंध आने लगती है। संवेदनशीलता के अभाव में पति-पत्नी, पिता-पुत्र और भाई-बहिन जैसे पवित्र व निकटस्थ संबंधों में भी दरार पैदा हो जाती है।

व्यक्ति को संवेदनहीन बनाने वाला एक प्रमुख कारण है—कोरा बौद्धिक विकास। आज मनुष्य की सारी सोच 'बौद्धिक दक्षता कैसे बढ़े'—इसी में सिमटी हुई है। आंतरिक गुणवत्ता का विकास कैसे हो, इस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। विद्या संस्थानों में भी विद्यार्थी को सूचनात्मक शिक्षा ही ज्यादा दी जाती है। संस्कारों का जो बीजारोपण होना चाहिए, वह वहां नहीं हो पाता। यही वजह है कि व्यक्ति केवल अध्ययन करने व डिग्रियां हासिल करने में ही लगा रहता है और फिर आजीविका की दिशा में चला जाता है। आजीविका केंद्र में आ जाती है, जीवन परिधि में चला जाता है। जीवन कैसे जीया जाए? कैसे एक-दूसरे को सहन किया जाए? परिस्थिति आने पर कैसे परस्पर सामंजस्य बिठाया जाए?—ये सारे गुर न सिखाए जाते हैं और न ही व्यक्ति इन्हें सीखने की अपेक्षा अनुभव करता है।

निश्चय ही बौद्धिकता जीवन की बड़ी उपलब्धि है, पर कोरी बौद्धिकता अधूरेपन की निशानी है। बौद्धिकता विकास का सिर्फ एक पड़ाव है, मंजिल नहीं। गीता का एक सूक्त है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः।'—सत्य बुद्धि की सीमा में नहीं आता। विराट सत्य की उपलब्धि उसे होती है, जो बुद्धि से परे देखने का प्रयास करता है। एक बार गांधीजी से पूछा गया—'आपकी नजर में हिंदुस्तान की सबसे बड़ी समस्या क्या है?' गांधीजी ने कहा—'आज बौद्धिकता बढ़ रही है, पर लोगों के भीतर करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है। मेरी नजर में आज की सबसे बड़ी समस्या यही है।' जब-जब व्यक्ति के भीतर क़रुणा का स्रोत सूखता है, समाज रुग्ण बन जाता है। समाज में नैतिक मूल्यों की हरीतिमा समाप्त होने लगती है। अतः आवश्यक है—बौद्धिक विकास को सीमा न माना जाए। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक—इन चारों दृष्टियों से विकास होता है, तब व्यक्तित्व सर्वांगीण बनता है।

इस दृष्टि से 'जीवन-विज्ञान' शिक्षा के साथ संस्कार-निर्माण की एक सफल प्रक्रिया है। इसमें विद्यार्थी को प्रारंभ से ही ऐसे प्रयोग कराए जाते हैं, जिनमें बौद्धिकता के साथ-साथ भावनात्मक संस्कारों की दृष्टि से भी वह स्वस्थ और समृद्ध बन सके। वर्तमान में

शेष पृष्ठ 55 पर

आचार-क्रांति के प्रणेता : आचार्य भिक्षु

❑

मुनि राजकुमार

महाप्राण आचार्यश्री भिक्षु सत्यशोधक, आत्म-गवेषक, उच्च कोटि के ध्यान योगी तथा महान तपस्वी थे। उनकी वाणी अनुभूतियों से संश्लिष्ट थी। उनके प्रत्येक कार्य में साधना की स्पष्ट झलक थी। वे अंतर और बाह्य में समचित्त थे। वाणी और कर्म में किसी प्रकार का विरोध नहीं था।

प्रत्येक युगपुरुष सत्य का आग्रह और असत्य का विरोध साथ लेकर ही जन्म लेता है। वह जीवन-भर बुराइयों से लड़ता है और खड़ा रहता है अच्छाइयों के पक्ष में—अडिग। जीवन के किसी मोड़ पर वह सफलता के दर्शन पाता है और वही सफलता क्रांति बन जाती है। उसी के आधार पर वह युगपुरुष के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे ही आचार-क्रांति के प्रणेता युगपुरुष आचार्यश्री भिक्षु थे। प्रत्येक क्रांति जीर्ण-शीर्ण व जीवन-शून्य मूल्यों के विरोध में होती है। सत्य पर आधारित नवीन एवं प्राणवान मूल्यों की स्थापना ही उसकी निष्पत्ति है।

विरोध और कर्म निर्जरा

आचार्यश्री भिक्षु महान साधक थे। दैहिक कष्टों में भी वे आत्मानुभूति करते थे। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, वस्त्र, मकान आदि के अनेक कष्ट उनके सामने थे, पर वे ऐसे आत्म-प्रज्ञ थे कि शारीरिक कष्ट भी उनके लिए आनंद का ही सृजन करते थे। तिरस्कार या अपमान को भी वे साधना का महत्त्वपूर्ण अंग समझते थे। इसीलिए वे तिरस्कारों से विचलित नहीं हुए और सम्मान से कभी फूले नहीं। वे भविष्य के आधार के रूप में वर्तमान को अधिक महत्त्व देते थे, इसीलिए साधना के प्रत्येक कार्य में उनकी सजगता रहती थी और यही सजगता जन-आकर्षण का आधार बनी। साधना को गौण कर वे न तो अपना संघ बढ़ाना चाहते थे और न ही प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते थे।

भगवान महावीर का वीतराग भाव आचार्यश्री भिक्षु की साधना की मूल भित्ति था। इसलिए वे प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कभी विचलित नहीं हुए। कहना चाहिए, उन्होंने कभी प्रतिकूलता को प्रतिकूल माना ही नहीं। उनके समक्ष जितने

साधना में सफल वही व्यक्ति हो सकता है जो प्रतिक्षण स्खलनाओं से बचने का प्रयत्न करे। छद्मस्थ के स्खलना हो सकती है, पर स्खलना करने की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। स्खलनाओं से बिना बचाव किए साधना करने का प्रयत्न केवल दंभ ही हो सकता है, साधना नहीं। आंधी चलती हो और उससे बिना बचाव किए कोई चक्की पीसने के लिए बैठ जाए तथा रात-भर पीसता जाए, तो प्रातःकाल तक उसके हाथ कितना आटा लगेगा? उसी प्रकार कोई व्यक्ति साधना करता जाए, पर स्खलनाओं से बचाव न करे, मन, वचन व काया से अनेक प्रकार के दोषों का सेवन करता रहे, तो अंतिम परिणाम में नितांत कोरा ही रहेगा। उसी प्रकार से उसकी आत्मा, प्रत्युत, मलिन ही होती जाएगी।

चैत्र शुक्ला नवमी
27 मार्च
अभिनिष्क्रमण दिवस

भी विरोध आए, उन्होंने अपनी कर्म निर्जरा का मुख्य अंग मान कर उनके प्रतिकार के लिए कोई कदम नहीं उठाया। विरोध के शमन में अपनी शक्ति को व्यय कर साधना के अमूल्य समय को वे निष्प्रयोजन गंवाना नहीं चाहते थे। उनके समक्ष भगवान महावीर का आदर्श था कि विरोध भी आत्मा की उपलब्धि में महान सहायक होता है। अतः न उससे विचलित होना चाहिए और न उसके शमन में ही कोई प्रयत्न किया जाना चाहिए। जिन साधकों ने विरोध को कर्म निर्जरा का निमित्त माना, उन्होंने आत्मा की विशुद्ध अवस्था को प्राप्त किया। इसके बरअक्स किसी का विरोध करने में ही जो अग्रणी रहे, उन्होंने सब-कुछ खो दिया और वे अधोगामी बने।

ऊर्जाओं का नाश

आचार्यश्री भिक्षु कषाय विजेता थे। वे रोष से सर्वथा उपरत रहते थे। किसी भी प्रकार के रोष को शांत स्वभाव से जीत कर साधना की महनीयता को अक्षुण्ण रखने में वे पूर्णतः निष्णात थे। रोष का प्रत्युत्तर वे रोष से नहीं देते थे। रोष उभरने के क्षणों में भी वे आत्म-भाव में रत रहते थे। वे कभी भी संतुलन नहीं खोते थे। इसीलिए उनकी भाषा में मधुरता होती थी। उनके प्रत्येक शब्द में यथार्थता, अभय एवं प्रियता झलकती थी। उनकी इस साधना से प्रत्येक व्यक्ति आकर्षित होता था। विरोधी भी उनसे बात कर उनका श्रद्धालु हो जाता था।

आचार्य और शब्द-व्यवहार

आचार्यश्री भिक्षु के प्रत्येक कार्य तथा प्रत्येक शब्द में आत्म-केंद्रितता रहती थी। उनको यदि कोई कठोर शब्द भी कहना होता, तो वे झुंझला कर कभी भी अपना संतुलन नहीं खोते थे, और न कठोर शब्द ही कहते थे। बल्कि, अपनी मुस्कान से हर किसी को आनंदविभोर कर देते थे। वे तो उस पुष्प की तरह थे जो मस्तक पर चढ़ाये जाने से भी सुगंध विकीर्ण करता है और हाथों के बीच मसले जाने पर भी दोनों हाथों को सुवासित कर देता है। चरणों के रजकणों को मस्तक पर चढ़ाने वाले भक्तों के प्रति तथा निंदा, आलोचना और तर्जना करने वाले विरोधियों के प्रति भी आचार्यश्री भिक्षु की समवृत्ति थी। कोई तीखे शब्दों में कभी उनके प्रति व्यंग्य करता, तो वे आत्म-भावना से सन्निहित ऐसे मधुर शब्दों का प्रयोग करते कि जिनसे सम्मुखीन व्यक्ति पानी-पानी हो जाता था।

सुविधाओं के साथ समझौता नहीं

आचार्यश्री भिक्षु ने साधना को दृढ़ता की कसौटी पर कसा। उन्हें सुविधावाद स्वीकार्य नहीं था। वे किसी भी परिस्थिति में साधना को गौण करना आत्महनन समझते थे। यही कारण था कि मानवीय दुर्बलताओं के साथ उन्होंने कभी भी समझौता नहीं किया। साधना के क्षेत्र में वे किसी को निकट या दूर नहीं मानते थे। आचार की दृढ़ता का स्वर ही उनके द्वारा सदा मुखर हुआ। उन्होंने कहा—आचार का पालन हमें हर सूरत में अच्छी प्रकार से करना चाहिए। उनके दृढ़ताभरे शब्द थे कि मैंने संयम के भलीभांति पालन के लिए यह प्रयत्न किया है। मैंने विनययुक्त धर्म तथा न्याय के मार्ग में गतिशील होने का अनुष्ठान किया है। सुखपूर्वक संयम का पालन हो सके, इसके लिए जरूरी उपाय किए हैं।

एक बार किसी व्यक्ति ने आचार्यश्री भिक्षु से पूछा—कठोर आचार और साधना-प्रधान आपका यह संघ कब तक चलेगा? आचार्यश्री भिक्षु ने उत्तर दिया—साधक जब तक श्रद्धा व आचार में दृढ़ रहेंगे, तब तक संघ बहुत ही अच्छी प्रकार से चलेगा। आचार्यश्री भिक्षु के इस कथन में आचार की दृढ़ता ही मुख्य है। वे शारीरिक कष्टों की अवगणना करते हुए हर प्रकार से आचार की अक्षुण्णता को प्रधानता देते थे। तेरापंथ धर्म-संघ के विधान की प्रत्येक धारा में यह स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है।

आचार्यश्री भिक्षु ने जिस दिन साधना का निर्णय किया था, उस दिन से जीवन की संध्या तक उनका एक जैसा सुदृढ़ विश्वास रहा और अंतिम समय में साधकों को शिक्षा देते हुए उन्होंने अखंड आत्म-विश्वास के साथ कहा—किसी मर्यादा या आज्ञा का भंग मत करना। शुद्ध आचारवान साधुओं की संगति करना और अनाचारियों से दूर रहना। स्थिरचित्त होकर भगवान महावीर के मार्ग का अनुसरण करना। दुर्बुद्धि और कदाग्रह को दूर छोड़ कर आत्मा की उज्ज्वलता हो, ऐसे कार्य करते रहना। शुद्धाचार की आराधना में कभी भी, जरा भी मत चूकना। समिति, गुप्ति और महाव्रतों का सावधानीपूर्वक पालन

करना। शिष्य-शिष्याओं तथा वस्त्र आदि उपकरणों पर किसी प्रकार का ममत्व मत करना। प्रमाद को सदा दूर करना। संयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना।

अंतिम परिणाम में कोरा

साधना में सफल वही व्यक्ति हो सकता है जो प्रतिचरण स्खलनाओं से बचने का प्रयत्न करे। छद्मस्थ के स्खलना हो सकती है, पर स्खलना करने की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। स्खलनाओं से बिना बचाव किए साधना करने का प्रयत्न केवल दंभ ही हो सकता है, साधना नहीं। आंधी चलती हो और उससे बिना बचाव किए कोई चक्की पीसने के लिए बैठ जाए तथा रात-भर पीसता जाए, तो प्रातःकाल तक उसके हाथ कितना आटा लगेगा? उसी प्रकार कोई व्यक्ति साधना करता जाए, पर स्खलनाओं से बचाव न करे, मन, वचन व काया से अनेक प्रकार के दोषों का सेवन करता रहे, तो अंतिम परिणाम में नितांत कोरा ही रहेगा। उसी प्रकार से उसकी आत्मा, प्रत्युत, मलिन ही होती जाएगी।

साधना की निष्पत्ति

आचार्यश्री भिक्षु की साधना में दृढ़ता सर्वत्र विद्यमान थी। दिन हो चाहे रात्रि, सोए हुए हों या जाग्रत अवस्था में, एकाकी हों या परिषद के बीच—सर्वथा प्रमाद-परिहार की स्थिति में रहने का ही प्रयत्न वे करते थे। उनकी निर्मल साधना का प्रभाव आबाल-वृद्ध पर एक-सा था। कोई व्यक्ति द्वेषवश किसी अन्य को यदि उनकी स्खलना के बारे में कहता, तो कोई भी व्यक्ति मानने के लिए प्रस्तुत नहीं होता था। एक बार आशकरणजी दांती ने विजयचंदजी पटवा से कहा—'तुम्हारे गुरु आचार्यश्री भिक्षु कपाट खोल कर दूकान में उतरे थे।' पटवाजी ने तत्काल कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।' दांतीजी ने अपना कथन दृढ़तापूर्वक कहा—'बंधुवर! मेरा विश्वास तो करो।'

पटवाजी ने स्मित मुस्कान के साथ कहा—'तुम्हारा विश्वास मुझे पूरा है। तुम पक्के असत्य-भाषी हो। आचार्यश्री भिक्षु कभी भी सत्य से विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते।'

दांतीजी निरुत्तर हो गए। विजयचंदजी पटवा को आचार्यश्री भिक्षु की साधना के प्रति किसी प्रकार की आशंका नहीं थी। वे पूर्णतः श्रद्धाशील थे। उन्होंने आचार्यश्री भिक्षु से उस घटना के बारे में पूछा तक नहीं। साधना की निष्पत्ति भी यही होनी चाहिए कि साधक इतना निर्मल रहे कि उसका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक प्रवृत्ति तथा प्रत्येक व्यवहार संपर्क में आने वाले व्यक्ति के लिए अनाशंका को ही बढ़ाने वाला रहे। उसमें विश्वास ही विश्वास चलता रहे।

आत्म-प्रतिलेखन

किसी व्यक्ति की साधना के प्रति यदि जन-जन में आशंकाएं ही भरी रहती हैं, तो समझना चाहिए, वहां केवल साधना का चोगा ही है, यथार्थ में कुछ भी नहीं है। दूसरे शब्दों में वह विषघट है और केवल उसकी ऊपरी सतह पर थोड़ा-सा दूध है। वह साधना नहीं है, अपितु जनता को ठगने का एक चालाक प्रकार है।

भगवान महावीर ने कहा—'जहा अंतो तहा वाहि जहा वाहि तहा अंतो'—जैसा अंतर में रहे वैसा ही बाहर रहे, जैसा बाहर रहे, वैसा ही अंतर में रहे। उसके चिंतन और कार्य में किसी प्रकार का द्वैत नहीं रहे। भगवान महावीर के इस कथन के आचार्यश्री भिक्षु मूर्त उदाहरण थे। यही कारण था कि उनके संपर्क में आने वाले व्यक्ति के हृदय में एक सहज स्फुरणा हो जाती थी। मनस्येकं, वचस्येकं, कायस्येकं महात्मनाम्—मन, वचन और कर्म की एकरूपता ही महात्मा के लक्षण होते हैं और आचार्यश्री भिक्षु उसके साकार रूप थे। बूंदी के सवाईरामजी ओस्तवाल आचार्यश्री भिक्षु के श्रावक थे। उनसे किसी ने कहा—'तुम हमारे में दोष गिनाते हो, पर आचार्य भिक्षु में भी तो दोष हैं?'

सवाईरामजी ने इसके उत्तर में एक उदाहरण दिया—'राजा का एक पूर्ण विश्वस्त अमात्य था। वह राज्य भंडार का किंचित भी दुरुपयोग नहीं करता था। दूसरा अमात्य उसका द्वेषी था। उसने विश्वस्त अमात्य के विरुद्ध राजा को भड़काया कि यह राज्य की संपत्ति का दुरुपयोग करता है। अपने पारिवारिकों के लिए राज्य की संपत्ति को मनमाने ढंग से काम में लेता है। राजा ने दोनों अमात्यों को साथ बुला कर पूछा। दूसरे अमात्य ने विश्वासपात्र अमात्य के विरोध में कहा—इसने अपने पुत्र को पढ़ने के लिए राजकीय पन्ने, स्याही तथा लेखनी दी है।

शेष पृष्ठ 45 पर

होली : आध्यात्मिक रंग

❑

डा. पुष्पलता जैन

भारतीय कला और संस्कृति में विविधता, रंगीनीयत और जीवंतता के जो दर्शन होते हैं—होली जैसे पर्व उसके प्रमुख आधार हैं। मानव को क्रियाशील बनाने में यही जीवंतता सहायक है, अन्यथा मानव एकरसता का जीवन जीते-जीते ऊब जाए और शारीरिक क्षमता खो बैठे। मानव की अविराम गतिशीलता के लिए परिवर्तनशीलता पहली शर्त है। उत्तम स्वास्थ्य के लिए स्वस्थ मनोरंजन भी आवश्यक है। होली पर्व का महत्त्व मनोरंजन के साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टि से भी काफी महत्त्वपूर्ण है।

होली हमारा सांस्कृतिक पर्व है, जो मनुष्य की सामाजिकता को सुदृढ़ करता है। हम लोगों में से अधिकांश इसे एक सामाजिक पर्व के रूप में ही मानते हैं, जबकि इसका एक आध्यात्मिक पहलू भी है। एक-दूसरे को रंगों में रंग देने से फाग—होली तो खेली ही जाती है, पर एक सच्चा भक्त अपने कुत्सित भावों की होली जला कर, अपने सात्त्विक मन को परमात्मा के रंग में रंग कर होली को समरसता से भी सराबोर करता है। हिंदी साहित्य के भक्ति काव्य में ऐसी आध्यात्मिक होलियों के उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं।

होली हमारा सांस्कृतिक पर्व है, जो मनुष्य की सामाजिकता को सुदृढ़ करता है। हम लोगों में से अधिकांश इसे एक सामाजिक पर्व के रूप में ही मानते हैं, जबकि इसका एक आध्यात्मिक पहलू भी है। एक-दूसरे को रंगों में रंग देने से फाग—होली तो खेली ही जाती है, पर एक सच्चा भक्त अपने कुत्सित भावों की होली जला कर, अपने सात्त्विक मन को परमात्मा के रंग में रंग कर होली को समरसता से भी सराबोर करता है। हिंदी साहित्य के भक्ति काव्य में ऐसी आध्यात्मिक होलियों के उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं।

संस्कृत साहित्य में वसंत ऋतु का वर्णन बखूबी हुआ है। उसी तरह भक्तिकाल के भक्त-कवियों ने होली के आध्यात्मिक रूप को बड़ी ही खूबी के साथ प्रस्तुत किया है। होली के प्रति अपना आध्यात्मिक चिंतन चित्रित करने वाले साधक-भावक कवियों में कबीर, सूर, मीरा, बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास, जगतराम, बुधजन, दौलतराम प्रभृति कवि उल्लेखनीय हैं।

इन कवियों ने होली यानी फाग में प्रयुक्त रंग, पिचकारी, केसर, गुलाल, वाद्य-यंत्र आदि वस्तुओं को प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यंजित किया है। इस अभिव्यंजना के पीछे उनका उद्देश्य आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार और तद्गत आनंद की अनुभूति रही है। 'कबीर' की चुनरी को उनके प्रियतम परमात्मा साहब ने रंग दिया। उस चुनरी को पहन

कर उनकी आत्मारूपी प्रिया समरस हो जाती है—

साहेब हैं रंगरेज, चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे, दियो मजीठा रंग।
धोये से छूटे नहीं रे, दिन-दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड, नेह के जल में प्रेम रंग देई बोर।
दुख देह मैल लुटाव दे रे, खूब रंगी झकझोर।।

'सूरदास' ने सूरसागर में वसंत लीला की आध्यात्मिकता का प्रारंभ में ही विवेचन किया है। भक्तों की मान्यता के अनुसार वृंदावन, कृष्ण-राधा तथा वसंत-विहार को वे शाश्वत मानते हैं—

नित्य धाम वृन्दावन स्याम।
नित्य रूप राधा ब्रज-धाम।
खंडिताभिसार नित्य रास, जल नित्य बिहार।
नित्य मान खंडिताभिसार।

उनके अनुसार वृंदावन धाम और कृष्ण नित्य हैं। राधा और ब्रज की गोपियां भी शाश्वत हैं तथा उनकी रास-लीला और वसंतलीला आदि भी नित्य हैं। तभी तो उन्होंने अपने विभिन्न पदों में मधुराभक्तिस्वरूप राधा, कृष्ण को होली खेलते चित्रित किया है—

खेलत नवल किसोर-किसोरी।
नंद-नंदन वृषभानुसुता—चित, लेत परस्पर चोरी।
औरों सखि जाल बनि सोभित,
सकल ललित वन गोरी।

नवल किशोर कृष्ण और किशोरी राधाजी होली खेलते हैं। दोनों एक-दूसरे के चित्त को चुराते हैं। सभी सुंदर गोपियां जाल बना कर घेर लेती हैं। एक गोपी हाथ में गुलाल लेती है और दूसरी चंदन और तीसरी रोली, सभी कृष्ण के ऊपर उझक-उझक छिड़कती हैं। ब्रज की सारी नारियां आशिष देती हैं कि राधा-कृष्ण, रसभक्त और भगवान की जोड़ी युग-युग जीए।

इसी तरह अन्य पदों में—**ब्रज में हरि होरी मचाई**—से मिलते-जुलते पद देखें—

छीन लियो मुख मुरली पीतांबर,
सिर सों चुनरी ओढ़ाई।
होली खेल रहे नंदलाल,
मथुरा की कुंज गलिन में।
नंद लाला खेलैं होरी
उड़त गुलाल लाल रंग बादर
अबकी फागुन मोसौं खेलौ न होरी
स्याम सों होरी खेलन आई
पिया बिन बैरिन होरी आई

जैसे पदों में भी कवि का तन-मन रसविभोर हुआ है।

कृष्ण भक्त कवयित्री मीराबाई ने कृष्ण के साथ होली खेल कर—**मैं तो सांवरे के रंग राती**—में रंगकर तथा किन्हीं पदों में अपनी विरहानुभूति को—**होली पिया बिनु लागे खारी**—कह कर अभिव्यक्त किया है।

तुलसीदास के समकालीन कविवर बनारसीदास ने अपने फाग (आध्यात्मिक) में वसंत ऋतु के आगमन पर आत्मा को नायक और शिवसुंदरी को नायिका मान कर उनके बीच खेली गई होली का आध्यात्मिक रूप प्रस्तुत किया है—**वसंत के आगमन पर मन-मधुकर प्रसन्न हो गया, सुमति कोकिला का गान प्रारंभ हुआ, भ्रम रूपी कुहरा नष्ट होने लगा, जड़ता रूपी जाड़ा घटने लगा, माया रूपी रजनी छोटी हो गई, समरस रूपी शशि का उदय हुआ, शुभ भाव रूपी पल्लव-दल लहलहा उठे, अशुभ भावों का पतझड़ होने लगा, हृदय रूपी कमल विकसित हो गया।** कवि ने फाग और होली के समय वाद्य-संगीत की ध्वनि को डफ, ताल तथा पिचकारी की पद साधना और संवर भाव को गुलाल के रूप में प्रस्तुत किया है।

कवि जगतराम भी—**कैसे होरी खेलैं, खेलि न आवै**—कह कर होली खेलना चाहते हैं, पर उन्हें खेलना नहीं आ रहा है। क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि पापों के कारण चित्त चंचल हो गया। **ब्रह्म** ही एक ऐसा अक्षर है, जिसके साथ खेलते ही मन प्रसन्न हो जाता है। कवि द्यानतराय सहज वसंत में होली खेलने का आह्वान करते हैं। होली खेलने के लिए **एक दल में बुद्धि, दया, क्षमा रूप नारी वर्ग खड़ा है और दूसरे दल में रत्नत्रय आदि गुणों वाला आत्मा है। ज्ञान-ध्यान रूपी डफ, ताल आदि बाजे बजते हैं। घनघोर 'अनहद-नाद' होता है। धर्म रूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोल लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह रंग-पिचकारियां चलती हैं। बाद में कर्मरूपी ईंधन को अनुभव रूपी अग्नि में जला देते हैं जिससे मनःशांति हो जाती है।** इसी शिवानंद की प्राप्ति के लिए कवि ने प्रेरित किया है—

आयौ सहज वसंत, खेलैं सब होरी होरा।
उत बुद्धि दया छिमा बहु ठाढ़ी, इत जित रतन सजे गुन जोरा।।

एक अन्य पद में वे चेतन से समता रूपी प्राणप्रिया

के साथ वसंत में होली खेलने का आग्रह करते हैं। **प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोल कर, ज्ञान-ध्यान की पिचकारी से रंग खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन ही मृदंग हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चोला है, भाव ही गुलाल है, धर्म ही मिठाई है और तप ही मेवा है।** दोनों समरस होकर होली खेलते हैं। चेतन और समता की जोड़ी बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती है—

चेतन खेलौ होरी।
सत्ता भूमि, छिमा वसंत में, समता प्रान, प्रिया संग गोरी।।

इसी प्रकार कवि भूधरदास स्वयं को प्रिया मान कर, चिदानंद को प्रियतम मान कर उनके साथ होली खेलने का निश्चय करते हुए कहते हैं—

होरी खेलूंगी घर आए चिदानंद
शिशिर मिथ्यात्व गयी,
अब आई काल की लब्धि वसंत।
पीय रंग खेलनि कौं हम सरसे, तरसे काल अनंत।
भाग जग्यो अब फाग रचानौ, आयो विरह को अंत।
होरी....

कवि बुधजन भी चेतन सुमति के साथ होली खेल कर अपने सहजानंद की अनुभूति को व्यक्त करते हैं—

निजपुर में आज मची होरी।
उमंगि चिदानंदजी इत आये, उत आयी सुमति गोरी।
लोक लाज कुलकानि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
समकित केसर रंग बनायो, चारित की पिचकी छोरी।
गावत अजपा गान मनोहर अनहद झरसौ बरस्यो री।

आध्यात्मिक प्रेम से ओत-प्रोत होने पर कवि का चेतन राय उसके घर वापिस आ जाता है और फिर वह उसके साथ होली खेलने का निश्चय करता है—

अब घर आये चेतन राय, सजनी खेलूंगी मैं होरी।

कवि दौलतराम का मन भी ऐसा ही खेलता है। वे करुणा की केसर घोल कर, ज्ञान की पिचकारी से पंचेंद्रिय सखियों के साथ कर्मों की होली खेलते हैं—

मेरो मन ऐसी खेलत होरी।
मन मिरदंग साज करि त्यागी, तन कौ तमूरा बनो री।

इसी तरह श्रीकृष्ण दीवानी मीराबाई कृष्ण के साथ होली खेलती हैं तो अपने-आप को उसी में समरस कर लेती हैं, और उन्हीं के रंग में रंग जाती हैं—

रंग भरी, राग भरी, राग सूं भरी री,
होरी खेल्यां स्याम संग रंग सू भरी री।
उड़त गुलाल लाल बादरा री रंग लाल
पिचका उड़वां रंग-रंग री झरी री।
चौवा चंदन अरगजा म्हां, केसरणो गगर भरी री।

इस प्रकार इन भक्त कवियों ने होली जैसे सामाजिक पर्व को सांस्कृतिक-आध्यात्मिक चेतना से सराबोर कर व्यक्ति को आत्मचिंतन और भगवत भक्ति की ओर प्रेरित किया है तथा आत्मा से परमात्मा बनने का पथ प्रशस्त किया है। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से भी ये आध्यात्मिक होलियां अत्यंत सरस, मनोरम और अनूठी हैं।

इन आध्यात्मिक होलियों के लोकप्रिय न होने का मूल कारण उनका प्रकाश में न आना माना जा सकता है। इसीलिए जनसामान्य आज इनसे अनभिज्ञ-सा है। सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत करने की दृष्टि से ऐसी रचनाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इन होलियों के माध्यम से जहां कवियों की भावनात्मक रहस्यवादी प्रवृत्ति के दर्शन बड़ी सहजता से हो जाते हैं, वहीं इनको पढ़ कर हमारा मन प्रसन्नता की गलियों में रमता हुआ, आध्यात्मिक होली की दहलीज पर भी आसन जमा कर बैठ सकता है। अपनी सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने का संकल्प भी तब ज्ञात-अज्ञात रूप से मन में उठ ही सकता है। आज की भौतिकतावादी चकाचौंध की होली जला कर अध्यात्मरूपी दिनकर रश्मियों के आलोक से सामान्य जन अपने को आलोकित करें और कला के क्षेत्र में हुई अभिव्यक्ति के साथ स्वयं की अनुभूति को जोड़ें तो इस भौतिक चकाचौंध में भी चिरंतन सुख की अनुभूति पा सकते हैं। ❖

अस्तेय और अपरिग्रह दोनों मिलकर अर्थशुचित्व पूर्ण होता है, जिसके बगैर व्यक्ति और समाज के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। सत्य और अहिंसा का आर्थिक क्षेत्र में आविर्भाव अस्तेय और अपरिग्रह से ही हो सकता है।

—विनोबा भावे

0-0=0

❑

त. रा. सु.*

कई बार ऐसा होता है। जो देखा है, दिखाई नहीं देता...आंखें जो-कुछ देखती हैं, उसका प्रभाव मन पर नहीं होता। ...दृष्ट, अदृष्ट हो जाता है। व्यक्त अव्यक्त हो जाता है। तर्कपूर्ण तर्कहीन हो जाता है।

वह कुआं भी ऐसा ही है।

...रास्ते के बगल वाले मैदान में...प्रतिदिन आने-जाने वाले रास्ते पर था, वहां होने पर भी उसने देखा नहीं। अदृश्य के समान...सुव्यक्त होने पर अव्यक्त अदृष्ट का कुआं...।

पहली बार देखने पर उसने वह नाम दिया था।

'...पहली बार देखने पर कैसा हंस रहा था...अचानक, एक दिन कुएं ने उसे अपने पास बुलाया...'

2

...सांझ, धुंधला...लौटकर आ रहा था उसी रास्ते...मैदान में दस-बीस लोग इकट्ठे हो गए थे। चीख-चिल्ला रहे थे। क्या बात हो सकती है? ...ध्यान से देखा। कुतूहल बढ़ने पर वहां गया...कुएं से भेंट हुई। अदृष्ट का कुआं।

कभी से उपयोग में नहीं आता था। क्योंकि उपयोग करने वाले नहीं थे। चारों ओर की मुंडेर टूटी हुई थी। मृत्यु का कुआं था। चारों ओर हरी घास चरने वाले पशुओं को पानी देकर, पृथ्वी की सतह तक का पानी, काई जम जाने से काला, ठंडा, गंदला, चमकता पानी।

पानी पीने को झुका बछड़ा फिसल कर पानी में गिर पड़ा था। गाय पानी में फंसी छोटी-सी जान को देखकर पागल की तरह चक्कर काट रही थी। रंभाती, आंखें बड़ी-बड़ी फाड़ती, पूंछ ऊंची करके पानी की ओर भागती है, उसकी नन्ही-सी जान डर कर पीछे हट जाती है... अपनी जान...जीवन भद्राणि पश्यंति।

काले ठंडे चमकते पानी के जाल में फंसा जीव, कराल, शीतल काई...आंखें देख रही हैं...काल स्तब्ध है, पानी के किनारे अंधेरा घिरा आ रहा है।

उसका शरीर कांप उठा। क्रोध आया... सब पर क्रोध...निकम्मे...कुएं को ऐसे क्यों छोड़ रखा है? म्युनिसिपालिटी वालों को कह कर भरवा क्यों नहीं देते...हत्यारे...खैर, किसी का अनर्थ नहीं हुआ। मृत्यु को पास रखकर...ठंडी, गंदली, काली चमकती मृत्यु...मृत्यु ही आनी चाहिए थी, आंखें खोलने को...ठंडे हाथों से आंखें खुलवानी थीं...किसी-न-किसी को मरना चाहिए था।

किसी-न-किसी को मरना चाहिए था...मानव की आंखें खोलने के लिए मानव को मरना चाहिए। गोली खाकर, सलीब चढ़ कर, विष पीकर, पानी में...मानव की आंखें खोलने के लिए मानव को मरना चाहिए...अनुकंपा-सहानुभूतिहीन, स्वार्थी चमकती आंखें खोलने को मरना चाहिए।

कहानी

*तुलकिन राम स्वामय्या सुब्बराव

अंत में बछड़ा पानी से बाहर आया। धरती पर पड़े पानी चुआते कांपते बच्चे के पास मां आ गई और सूंघ-सूंघकर उसे चाटने लगी।

मृत्यु ने अपना शिकार छोड़ दिया था।

उसका शरीर कांप उठा। क्रोध आया... सब पर क्रोध...निकम्मे...कुएं को ऐसे क्यों छोड़ रखा है? म्युनिसिपालिटी वालों को कह कर भरवा क्यों नहीं देते...हत्यारे...खैर, किसी का अनर्थ नहीं हुआ। मृत्यु को पास रखकर...ठंडी, गंदली, काली चमकती मृत्यु...मृत्यु ही आनी चाहिए थी, आंखें खोलने को...ठंडे हाथों से आंखें खुलवानी थीं...किसी-न-किसी को मरना चाहिए था।

किसी-न-किसी को मरना चाहिए था...मानव की आंखें खोलने के लिए मानव को मरना चाहिए। गोली खाकर, सलीब चढ़ कर, विष पीकर, पानी में...मानव की आंखें खोलने के लिए मानव को मरना चाहिए...अनुकंपा-सहानुभूतिहीन, स्वार्थी चमकती आंखें खोलने को मरना चाहिए।

ठंडे चमकते पानी के किनारे कांपता खड़ा काल...जीव...काल-जीव प्रतिमा...व्यक्त-अव्यक्त...।

3

मैदान में कुआं...मन में कुआं...भीषण... आकर्षण...भीषण आकर्षण जीवन...।

भयभीत...आकर्षित होकर जीने वाले...ठंडे पानी के किनारे जा रहा था, प्रतिदिन संघर्ष को जाता...लौटता सफलता की आस से...कांटे निकाल कर रोज जाकर आता...रोज कुएं से मुलाकात...।

कई बार क्रूर...मस्त पानी ठंडा, फीका, हरा, नीला होकर चमकता...निराशामय हंसी...कई बार रंग-बिरंगे बादलों की छाया पानी...कुरूपता में सौंदर्य...कुरूप को सुंदर बनाने वाला सौंदर्य...उसका आकर्षण!

जी रहा था। रोज संघर्ष के लिए जी रहा था। ...कुरूप को सुंदर बनाने वाला सौंदर्य...उसका आकर्षण...रास्ते में कुआं।

4

प्रणय मंदिर, प्रेम की मूर्ति, और मानव पुजारी, स्त्रीत्व का संकेत...प्रेम ही सौंदर्य।

जी रहा था, प्रतिदिन अपने संघर्ष के लिए जीता। ...संघर्ष...जीवन के घिरे अंधेरे में सौंदर्य के दीप को बुझने न देने को...भयभीत आकर्षित होकर... आओ... जाओ।

जा रहा था। आ रहा था।

...रास्ते में कुआं, मन में कुआं।

जा रहा था। आ रहा था।

लोहे की पटरियों पर दौड़ती रेल...निर्दय वास्तविकता...शांति, प्रेम, तृप्ति के स्टेशन की ओर... छक-छक आशा...निराशा...विकर्षण, आकर्षण... निर्दय वास्तविकता की लोहे की पटरियां जी रहा था, प्रेम किया, जिन्हें प्रेम किया उनसे प्रेम पाने को प्रेम किया...स्टेशन...प्रेम का प्रेम ही प्रतिफल होता है...त्याग...प्रेम का आंसू ही आहार है। सुख की कीमत दुख ही है।

जी रहा था, प्रेम कर रहा था, जिन्हें प्रेम करता था उनसे प्रेम पाने को जी रहा था।

5

सब के समान वह भी हजारों में एक था...जीने की इच्छा...समाज की अर्थ-व्यवस्था, अपनेपन के चक्कर में पड़ कर चक्कर खा रहा था...घूमने वाला चक्र...तेजी से, उग्रता से, उन्मत्तता से, घूमने वाला चक्र...चक्र में चक्र...।

आशा-आशा परमं दुखं...विश्वास रखने वाले कभी धोखा नहीं खाते मांगने पर...किसी वस्तु को मना किया नहीं जाता। क्या दोगे...क्या...क्या दृष्टिहीन, अर्थशून्य, कैसा जटिल जीवन...आधुनिकता की चिल्ल-पों...वर्गशून्य हिंसादायक चिल्ल-पों...।

यह मत कहो, संघर्ष से फल नहीं मिलेगा। संघर्ष करना है और करके जीतना है। प्रयत्न का फल अवश्य मिलता है। ...कहावत की बात, वेद की बात...। भूत का उदाहरण देने वाला वर्तमान...अनंत भूत का उदाहरण देता अनंत वर्तमान...।

जी रहा था। इच्छावाला पशु...आहार, निद्रा, भय, मैथुन...इच्छा वाला पशु...नाम, कीर्ति ...रास्ते के किनारे की बाड़ के फूल ...कुरूपता को सुंदर बनाने वाला सौंदर्य।

कभी-कभी, प्रयोग में न लाने पर, प्रयोग में न आने योग्य काई जम चुके पानी पर बादलों की रंग-बिरंगी छाया...।

6

ठंडा चमकता, गंदला पानी...दिन को भगाती सांझ आ रही है...।

चमकती हंसती आंखें...ओस छा गई है...। अंधेरा...अंधेरा...और अंधेरा। कठोर वास्तविकता की पटरियों पर दौड़ती रेल...स्टेशन...विफलता...मैदान में कुआं...।

भगवान स्वर्ग में है, धरती पर सब ठीक है...मामेकं शरणं व्रज...।

मैदान का कुआं, उपयोग में आने वाला, उपयोग में लाने योग्य भी नहीं... व्यक्ताव्यक्त मृत्यु का कुआं...।

'ऐसे क्यों छोड़ दिया इस कुएं को...भरवा क्यों नहीं दिया...हत्यारे कहीं के...गोद में मृत्यु रख कर...'

आंखें खोलने को मृत्यु की आवश्यकता थी। मानव की आंखें खोलने को मानव को मरना है...।

मानव को मरना चाहिए...किसे?

पूछा, 'मृत्यु किसे बुला रही है?' तुम्हीं को बुला रही है।

ठंडा पानी गुनगुना है...सुंदर चमकती आंखों की दृष्टि से गुनगुना है। ठंडा पानी...।

मनसिज की माया, विधि विलास, नर रूपी पहाड़ को ही मार कर पुकारेगा, मानवों को नहीं ठंडा पानी...

मरना ही होगा, आंखें खोलनी ही चाहिए।

7

मैदान-मैदान से मिल कर मैदान बन गया था। ❖

कन्नड़ से अनुवाद

—बी.आर. नारायण

आचार-क्रांति के प्रणेता : आचार्य भिक्षु

पृष्ठ 39 का शेष

'विश्वासपात्र अमात्य ने अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हुए दृढ़ता से कहा—हां, ये वस्तुएं मैंने अपने पुत्र को पढ़ने के लिए दी हैं, किंतु राज्य भंडार से चुरा कर नहीं, अपितु राज्य के इस नियम के आधार पर कि राज्य की सेवा करने वाले की शिक्षा राज्य के द्वारा होगी। मेरा पुत्र भी शिक्षित होकर राजा की ही सेवा करेगा?

'राजा सुन कर प्रसन्न हुआ। चुगलखोर अमात्य की ईर्ष्या-भावना स्पष्ट हो गई, अतः अप्रतीति हुई। उसने न होते हुए भी अमात्य में दोष निकालने का अनधिकृत प्रयत्न किया था।'

सवाईरामजी ने कहा—'उसी प्रकार तुम भी आचार्यश्री भिक्षु में दोष न होते हुए भी मनगढंत दोष बताते हो। किसी भी व्यक्ति के मन में यह जंच नहीं सकता कि आचार्यश्री भिक्षु ने कभी किसी दोष का सेवन किया है।' वस्तुतः साधना का यह यथार्थ रूप था। जिस साधु या आचार्य के बारे में बच्चे, बूढ़े, बहिनें—सभी संदिग्ध हों और वे एक स्वर से कहते हों कि वे खुल्ला झूठ बोलते हैं, आधाकर्मी आहार व खरीदी हुई औषधि लेते हैं, परिग्रह संग्रह की खुली प्रेरणा देते हैं, मकान बनवाते हैं तथा अन्य भी छोटे-बड़े सैकड़ों दोषों का सेवन करते हैं। उनकी साधना कैसी है, यह अन्य किसी के लिए कथनीय नहीं होता, अपितु स्वयं उनके लिए ही आत्म-प्रतिलेखन का विषय हो जाता है।

पुष्प की सुवास

आचार्यश्री भिक्षु की साधना इतनी निर्मल, कठोर तथा उच्चतम थी कि विरोधी भी उसका लोहा मानते थे। उनकी वाणी, दृष्टि तथा गति में निवृत्ति की ही झलक मिलती थी। उनका चिंतन अध्यात्मपरक था। यही कारण था कि उनकी साधना से प्रत्येक व्यक्ति स्वतः प्रभावित हो जाता था।

एक बार आचार्य जयमलजी प्रवचन कर रहे थे। बड़ी परिषद उपस्थित थी। परिषद के बीच ही किसी ने पूछा—'भीखणजी साधु हैं कि असाधु?'

आचार्य जयमलजी ने सहजता से उत्तर दिया—भीखणजी अच्छे साधु हैं। साधना की निष्पत्ति यही होती है कि किसी को कहने की अपेक्षा नहीं होती, बल्कि स्वतः ही समीपवर्ती प्रभावित होते रहते हैं। पुष्प अपनी सुगंध के लिए किसी को आमंत्रित नहीं करता, पर हवा दूर-दूर तक उसकी सुवास पहुंचा देती है और व्यक्ति आकर्षित होकर उस ओर आ जाते हैं। ❖

रघुवीर सहाय की कविताएं

•

ईश्वर

कुछ दिन से मेरा मन मुक्त है
ईश्वर का भय नहीं
केवल एक अनुभव है कि वह मुझे मिला था

अब उससे परिचय है
पर मित्रता नहीं

मैंने जो अपने को छोड़ दिया था उस पर
वह अब वापस लिया
अगली मुठभेड़ तक

हाँ, उसने गई बार रक्षा की
पर मैंने भी अपना अहं दिया

वह बड़ा है मुझसे पर वह मुझसे इतना
ज्यादा बड़ा रहे
यह रिश्ता देर तक चल नहीं सकता है

बार-बार त्यागूंगा अपने को
उसके करीब होना है बराबर।

•

भक्ति है यह

भक्ति है यह
ईश-गुण-गायन नहीं है
यह व्यथा है
यह नहीं दुख की कथा है
यह हमारा कर्म है, कृति है
यही निष्कृति नहीं है
यह हमारा गर्व है
यह साधना है—साध्य विनती है।

•

प्रार्थना के शब्द

मैं अपने पैतृक घर में गया। मेरे सत्कार में उनने कुछ पकाया था—
औरों के खाने से कुछ अलग। किसी ने राय दी सबके लिए थोड़ा-
थोड़ा पकाने से बेहतर है एक साथ पक जाए। पर मैंने ताड़ लिया—
अपना खुद पकाना एक जिंदगी अपने तरीके से जीने का हिस्सा है।
मैंने पड़े-पड़े जाने किन शब्दों को मन से कहा : प्रार्थना नहीं थे
वे, लेकिन संदेह के होते भी मुझे लग रहा था कि आंख खुल जाने के
पहले, जब तक संसार उजियाले से नष्ट नहीं होता तब तक यह जो
भी है कह लेना चाहिए। तभी मैं समझा प्रार्थना क्या होती है।
जगते में की हुई प्रार्थना सगुण उपासना लगती है पर जिस अवस्था में
मैंने की उसमें न कोई आराधना थी न पूजा थी—मेरी
अपनी लिखी हुई प्रार्थना में कोई शब्द न थे।

•

भूले हुए शब्द की जगह

कितनी धड़कती भीड़ों में से ले आया
याद करना प्रार्थना के उस गीत का उसकी ठीक स्वरलिपि में

जो पंक्ति आधी याद थी
उस पर घुमड़ कर खिल गई एक नई तितली,
धूप और फूल सहित संपूर्ण।
और एक शब्द भूले हुए शब्द की जगह रच गया जो
कवि देखता तो कह नहीं पाता कि वह उसका नहीं है। ❖❖

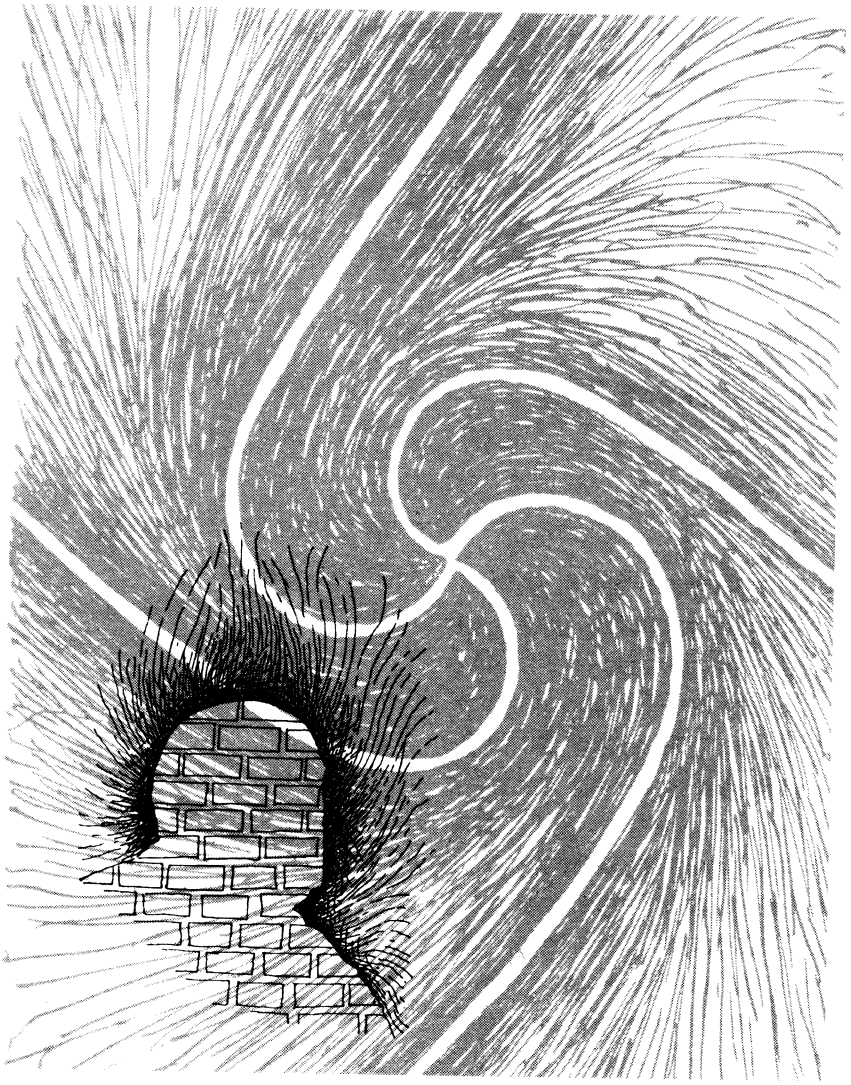

शीलन

अहिंसा को हमने शास्त्रीय बनाकर निकम्मा कर दिया है। अपनी निष्क्रियता से उस शब्द के तेज को ही हमने नष्ट कर दिया है। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पण का तत्त्व डाल कर ही हम उस अहिंसा को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। किताब की अहिंसा तो यूरोप की लाइब्रेरियों में भी बंद है। मांग उस अहिंसा की है जो जीवन में ज्वलंत हो। वही विश्व की पुनर्रचना के संबंध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आवश्यकता है। बारूद के और वाद-विवाद के धुएं से अंधेरा छाया हुआ है। इस अंधेरे में आपा-धापी ही चल सकती है। अरे, इस अंधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है! ऐसे में प्रकाश चाहिए। यदि आपके भगवान महावीर ने प्रकाश के स्रोत को पाया था तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलने वाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश को जगत् के सम्मुख करना होगा।

—जैनेंद्रकुमार

मंत्र-शक्ति : ऊर्जा का विकास

❑

साध्वी जयमाला

आज आम आदमी की जिंदगी में विभिन्न समस्याओं के कारण नैराश्य के भाव उत्पन्न होते रहते हैं और व्यक्ति परेशान नजर आता रहता है। हर आदमी का दृष्टिकोण आज भौतिक पदार्थों तथा बाहर की चकाचौंध में उलझा हुआ है। नाना प्रकार के विचार प्रतिपल उभरते रहते हैं और इन्हीं विचारों के कारण उसका मन अस्थिर एवं चंचल बना रहता है। प्रतिकूलता की स्थिति में व्यक्ति तनाव से भी घिर जाता है। धीरे-धीरे कुंठा और हीनभाव पनपने लगते हैं। मानसिक शांति पाने के लिए वह किसी साधु-महात्मा के पास पहुंचता है, लेकिन यह संभव नहीं कि हर कहीं उसे राहत मिल ही जाए। हीनभाव, कुंठा और तनावग्रस्त व्यक्ति के लिए ध्यान, कायोत्सर्ग और मंत्र-साधना के प्रयोग बताए जाते हैं। कई बार इनसे अपेक्षानुसार लाभ भी होता है।

अनादिकाल से ही हर सभ्यता और हर संस्कृति में तंत्र-मंत्र और साधना के द्वारा शक्ति अर्जित करने की परंपरा रही है। लगभग सभी धर्मों में और सभी देशों में मंत्र और तंत्र की सात्त्विक शक्ति को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। लेकिन मंत्र-साधना में अर्जित शक्ति को लोक-हितकारी अथवा विध्वंसक बनाना तंत्र साधक पर निर्भर करता है। जहां शक्ति का लोक-हितकारी उपयोग करने की घटनाएं गिनाई जा सकती हैं, वहीं इसके विध्वंसक रूपों के किस्से भी अनेक हैं।

बताते हैं कि गुरु गोरखनाथजी तंत्र साधना के बल पर लोक-कल्याण करने वाले दिव्य पुरुष बने। तंत्र साधना में अपार शक्ति मानी गई है। साधक जब तन, मन, वचन तथा कर्म से अपनी साधना में लीन होकर सब-कुछ प्राप्त कर सकता है। कहा जाता है कि भस्मासुर ने बड़ी ही एकाग्रता व तन्मयता के साथ तंत्र साधना की थी, जिससे भगवान शंकर प्रसन्न हो गए और भस्मासुर को वरदान मांगने के लिए कहा। भस्मासुर ने कुछ क्षण सोचकर वरदान मांगा कि आप मेरी साधना से संतुष्ट हैं तो मुझे यह वरदान दें कि मैं जिसके भी शीश पर अपना हाथ रखूं, वह तत्काल

मंत्रसिद्धि के लिए इच्छाशक्ति को मजबूत बनाएं और साथ ही समय की पाबंदी भी रखें। सतत जागरूकता भी बनाए रखें। कुछ मंत्रों द्वारा भौतिक शक्तियों को आमंत्रित किया जाता है, तो कुछ मंत्र आत्म-विजय में सहायक सिद्ध होते हैं। अध्यात्म-साधक को आत्मशुद्धि का लक्ष्य रखकर मंत्र-साधना करनी चाहिए। मंत्र-ध्वनि का प्रभाव हजारों मील दूर बैठे व्यक्ति के मन पर भी पड़ता है। मंत्र की शुरुआत करते समय उपवास, आयंबिल, एकासन आदि करना चाहिए। मंत्र जपते समय पद्मासन, सिद्धासन एवं सुखासन का महत्त्व बतलाया गया है। जप के समय नासाग्र पर या भृकुटि पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। जप में समय का भी बहुत महत्त्व होता है। सर्वश्रेष्ठ समय-पश्चिम रात्रि या प्रातः के शांत वातावरण में मन शीघ्र एकाग्र होता है। उपासना-गृह या धार्मिक स्थल में बैठकर जहां शांति हो— ऐसे स्थान का महत्त्व उपयोगी माना गया है।

भस्म हो जाए। भोलेशंकर ने अविलंब—'तथास्तु वत्स'—बोला। वरदान पाते ही भस्मासुर की आसुरी प्रवृत्ति जाग उठी। उस वरदान को प्रत्यक्षतः परखने के लिए उद्‌ग्र होकर भस्मासुर ने भगवान शंकर के ही मस्तक पर अपना हाथ बढ़ाया। बताते हैं कि भगवान शिव भस्मासुर के सामने से दौड़े और कहते हैं कि तीनों लोकों में भागे-भागे फिरे। ऐसी है तंत्र की शक्ति। कई, जगह लिखा है कि तांत्रिक साधनाओं से प्राप्त तथा पैदा हुई शक्ति अस्त्र-शस्त्रों से कई गुना तेज और व्यापक होती है।

तंत्र साधना द्वारा सिद्धियों के प्राप्त होने के बाद कोई भी शक्ति मनुष्य का कुछ नहीं बिगाड़ सकती। तंत्र और मंत्रों का प्रयोग हजारों-लाखों मील की दूरी से भी उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार शस्त्रों का प्रयोग आमने-सामने या लंबी दूरी से किया जाता है। तंत्र साधना का ज्ञान दत्तात्रेयजी ने 'इंद्र-जाल कौतुक रत्नम' के नाम से संस्कृत में एक महाग्रंथ के रूप में संसार की भलाई के लिए निरूपित किया है।

मंत्र साधना में प्रगाढ़ आस्था होनी जरूरी है। श्रद्धाबल मजबूत नहीं होने की स्थिति में व्यक्ति डगमगा सकता है। डांवांडोल स्थिति में वह व्यक्ति न इधर का रहता है, न उधर का। कहा भी है—'दुविधा में दोनों गए, माया मिली ना राम'—इसलिए मंत्र साधना करने वाले व्यक्ति की आत्म-शक्ति का प्रबल होना जरूरी है।

कोई साधक तत्काल सिद्ध नहीं हो जाता। साधना के सोपानों पर धीरे-धीरे बढ़ा जाए तो एक दिन मंजिल अवश्य प्राप्त हो सकती है। अगर निष्ठा में कमी हो, निरंतरता की कमी हो, प्रक्रिया की कमी हो और किसी प्रकार की विघ्न-बाधा आए तो उसे निरस्त करना जरूरी है। ऐसा होने से ही सिद्धि मिल सकती है।

प्रश्न हो सकता है कि साधना के लिए जपा गया मंत्र सिद्ध हुआ या नहीं—कैसे पता चले? इसका उत्तर है—अगर मन अच्छी तरह से एकाग्र हो उस मंत्र के साथ एकमेक हो जाता है तो भीतर में तीव्र प्रकंपन का अनुभव होने लगता है। साथ ही विचारों का प्रवाह भी मन के एकाग्र होने से रुक जाता है। अवचेतन मन जब मंत्र से जुड़ जाता है तो सफलता निश्चित ही मिलती है। तंत्र और मंत्र का प्रयोग सिर्फ आत्मिक सिद्धि के लिए ही लाभदायक होता है।

मंत्र शक्ति द्वारा ऊर्जा का जागरण

आत्मशुद्धि, मानसिक शांति तथा आध्यात्मिक विकास के लिए मंत्रों का अनुष्ठान प्रबल आधार माना गया है। अपनी शक्ति की पहचान के लिए यदि मंत्रों का सम्यक् प्रयोग हो, तो सोई हुई ऊर्जा जग सकती है। इसे जगाने के लिए मंत्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

भारत के सभी दर्शनों में मंत्रशक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किस ध्वनि के ह्रस्व, दीर्घ उच्चारण से कौन-सी शक्ति का जागरण होता है, इसे साधक लोग साधना की गति के साथ जानने लगते हैं। इसी आधार पर मंत्रशक्ति के अनुभवी, विवेकसंपन्न ज्ञाता आचार्यों ने मंत्रों की संरचना करते हुए यह स्पष्ट बतलाया है कि किस समय कौन-सा मंत्र जपना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी मंत्र जपते समय ध्यान रखना आवश्यक है।

'जब जागें तभी सवेरा'—वाली उक्ति मंत्रों के लिए सही नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है—'काले कालं समायरे'—अस्तु मंत्र-साधना के लिए भी समयावधि का ज्ञान आवश्यक है; तभी मंत्र प्रभावशाली बनकर कार्य करता है। मंत्र जपते समय सर्वप्रथम मनोबल मजबूत होना जरूरी है। फिर संकल्प बल, आत्मबल, इच्छाबल और दृढ़ आस्था से किया गया मंत्र अवश्य सफलता प्रदान करता है।

जब तक व्यक्ति में स्थिरता नहीं आएगी, तब तक मंत्र सिद्ध नहीं होगा। थोड़े दिन तो जप में मन लगे, फिर वह डांवांडोल होने लगे तो मंत्र सिद्ध नहीं हो सकता। मंत्र साधना के लिए बहुत खपना-तपना पड़ता है। तभी जाकर सिद्धि हस्तगत होती है। मंत्र-जप में एक लय और एक ध्वनि के बार-बार उच्चारण से मंत्र शक्तिशाली बन जाता है। इससे शरीर के अंदर भरे पड़े विकार बाहर निकलते हैं। इस रोग-निरोधक प्रणाली से शरीर भी शक्तिशाली बनता है। साथ ही उपद्रवों का शमन भी हो जाता है। भूत-प्रेत का, सर्प के विष का कोई असर नहीं हो सकता। मीरा के हाथ में राणा ने जहर का प्याला दिया, मगर प्रभु नाम की शक्ति से विष भी अमृत में बदल गया। आचार्य जीतमलजी (जयाचार्य) के जीवन-दर्शन को पढ़ते हैं तो लगता है कि जयाचार्यजी पूर्णरूपेण मंत्र-विद् थे। उनके जीवन में अनेक घटनाएं घटीं—जैसे अग्नि की वर्षा का उपद्रव, मूत्र-निरोध हो जाना, डाकुओं का अचानक

सिरियारी पर आक्रमण आदि-आदि। जयाचार्यजी की आत्मशक्ति तथा मंत्रबल के जरिए ये विघ्न अपने-आप सहज ही टल गए।

मंत्र-साधना के लिए एकाग्र होना अत्यावश्यक है। शारीरिक चंचलता को विसर्जित किए बिना व्यक्ति ध्यान और जप का अधिकारी नहीं हो सकता। मन स्थिर हुए बिना चंचलता नहीं मिट सकती। मंत्र-साधना में श्रद्धाबल और सकारात्मक सोच का होना भी अनिवार्य है। तोता-रटन मात्र से जाप सिद्ध नहीं होता। चिकने घड़े की तरह वह व्यक्ति के चित्त पर ठहर नहीं सकता। ऐसी अवस्था में मंत्र अपना प्रभाव नहीं छोड़ सकता।

सकारात्मक चिंतन मन पर गहरा प्रभाव डालता है। मंत्रोच्चार में अपनी संपूर्ण ऊर्जा, संपूर्ण श्रद्धा-बल जरूरी है। लयबद्धता के साथ किया गया जप समूचे वातावरण में एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। मंत्र उच्चारण में शब्दशुद्धि का भी पूरा ध्यान रखना जरूरी है। अगर उच्चारण सही नहीं है तो अनर्थ भी हो सकता है। साथ ही शब्दों के अर्थ का भी ज्ञान होना चाहिए। अशिक्षित या अज्ञानी को मंत्र-दान ऐसा ही होता है, जैसा बंदर के हाथ में तलवार।

किसी जैन साध्वी ने ग्रामीण अशिक्षित लड़की को अपनी शिष्या बनाया। उसे जैन धर्म के संस्कारों में ढालने के लिए सर्वप्रथम नमस्कार महामंत्र सिखाया गया। पांच पद याद होने के पश्चात्—'ऐसो पंच णम्मुकारो'—पद याद करने के लिए दिया गया और कहा कि हम शौचार्थ बाहर जा रही हैं, तुम पाठ याद करते रहना। पीछे से नवदीक्षित साध्वी को जो पाठ दिया था, उसको तो वह भूल गई और बदले में—'आ पांचां रो मुंडो कालो'—बोलने लगी।

इतने में कहीं से कोई श्रावक दर्शनार्थ आया। नव-दीक्षित साध्वी के मुंह से नए पाठ का उच्चारण सुनकर वह दंग रह गया। सोचा, यह नया पाठ कहां से आया? वह सोच ही रहा था कि इतने में सभी साध्वियां स्थानक में आ गईं। उस श्रावक ने नम्र निवेदन करते हुए सतियों से पूछा—महाराज, यह कौन-सा पाठ इस शिष्या को याद करवा रही हैं?

इसीलिए कहा है कि हर किसी को मंत्र-ज्ञान मत दो। मंत्र का सही हार्द समझ पाए, उसी को मंत्र-जप बताना चाहिए।

सतत जागरूकतापूर्वक मंत्र-जाप करने से मन की सारी शक्तियां और वैचारिक शक्ति भी मंत्र-बल से मन से हट कर मंत्र में ही प्रवाहित होने लगती है। तब भीतर के ऊर्जा स्रोत जाग्रत होने लगते हैं। सतत अभ्यास से कर्म-निर्जरा के साथ-साथ साधक मनइच्छित सिद्धियां भी हासिल कर लेता है। मन धीरे-धीरे बाहर के वातावरण से हट कर अन्तर्मुखी बनता हुआ समाधि की ओर चला जाता है।

विधायक भाव और तैजस शक्ति के विकास से स्वस्थ तन-मन तथा स्वस्थ चिंतन बढ़ता रहता है। मंत्र-शक्ति से सुरक्षा कवच का निर्माण होने पर दुष्ट शक्तियां अपना दुष्प्रभाव नहीं डाल सकतीं। मंत्रोच्चार से भाव-धारा विशुद्ध बन जाती है। शरीर का स्नायुमंडल तथा मांसपेशियां शक्तिशाली बनने से रोगोत्पत्ति को रोकने में सहायक सिद्ध होता है। मंत्र का प्रयोग ऊर्जा को केंद्रित करने में भी सहयोगी बनता है। यहां तक की पवित्र दृष्टिकोण से किए गए जप से व्यक्ति को वचनसिद्धि तक मिल जाती है। जो भी शब्द निकल गए वे शतशः सही चरितार्थ हो जाते हैं। मंत्र-जप से मानसिक और शारीरिक रोग व शोक-व्याधि दूर होती हैं। ध्यान एवं जप के द्वारा जन्म-जन्मांतरों के अपसंस्कार हटाए जा सकते हैं।

मंत्र अपने-आप में अनुप्रेक्षा और संकल्प-बल का ही प्रयोग है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने स्वभाव परिवर्तन के लिए अनेक अनुप्रेक्षाएं बतलाई हैं। जैसे—क्रोध का आवेश शांत न हो पा रहा हो, तनाव अधिक बढ़ रहा हो तो उस समय अनुप्रेक्षा करें कि 'मैं क्रोधी नहीं हूं, क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, मैं क्रोध नहीं करूंगा'—इस प्रकार बार-बार अनुचिंतन करने और साथ ही सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा करने से क्रोध का शमन हो सकता है। इसके लिए मंत्र 'ॐ क्षौं क्षौं'—का 108 बार तन्मयता से ज़प करना चाहिए। ललाट के मध्य भाग में श्वेत रंग का ध्यान भी किया जाए। इससे स्वतः ही क्रोध शांत होता चला जाएगा।

मंत्रसिद्धि के लिए इच्छाशक्ति को मजबूत बनाएं और साथ ही समय की पाबंदी भी रखें। सतत जागरूकता भी बनाए रखें। कुछ मंत्रों द्वारा भौतिक शक्तियों को आमंत्रित किया जाता है, तो कुछ मंत्र आत्म-विजय में सहायक सिद्ध होते हैं। अध्यात्म-साधक को आत्मशुद्धि का लक्ष्य रखकर

मंत्र-साधना करनी चाहिए। मंत्र-ध्वनि का प्रभाव हजारों मील दूर बैठे व्यक्ति के मन पर भी पड़ता है। मंत्र की शुरुआत करते समय उपवास, आयंबिल, एकासन आदि करना चाहिए। मंत्र जपते समय पद्मासन, सिद्धासन एवं सुखासन का महत्त्व बतलाया गया है। जप के समय नासाग्र पर या भृकुटि पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। जप में समय का भी बहुत महत्त्व होता है। सर्वश्रेष्ठ समय-पश्चिम रात्रि या प्रातः के शांत वातावरण में मन शीघ्र एकाग्र होता है। उपासना-गृह या धार्मिक स्थल में बैठकर जहां शांति हो—ऐसे स्थान का महत्त्व उपयोगी माना गया है।

मंत्र-साधना-काल में द्रव्य-शुद्धि, क्षेत्र-शुद्धि, आसन-शुद्धि तथा मन, वचन और काया की शुद्धि आवश्यक हैं। प्रत्येक मांगलिक कार्य में जप-अनुष्ठान आवश्यक है। मंत्र विशिष्ट अक्षरों के संयोजन से बनते हैं। जैन दर्शन में आध्यात्मिक उन्नति, मनःसंतुष्टि, रोग-निवारण आदि के लिए मंत्रों का प्रयोग बताया है, किसी का अनिष्ट करने के लिए नहीं—अतः इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए। ❖

फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	गंगाशहर, बीकानेर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	दीपचन्द सांखला
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003
4.	प्रकाशक का नाम	:	तरुण सेठिया
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा शाखा कार्यालय : तेरापंथी भवन गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान
5.	संपादक का नाम	:	शुभू पटवा
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	भीनासर, बीकानेर
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते, जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्र के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1

मैं, तरुण सेठिया, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

तरुण सेठिया
प्रकाशक के हस्ताक्षर

स्वादु अन्नं न तु याच्यताम्

❑

काका कालेलकर

जीवन ही इस विश्व की चेतना है। जीवन का व्यापार नए-नए ढंग से चले, इसीलिए जीवन ने अपनी सहूलियत के लिए मृत्यु की व्यवस्था की है। शुद्ध दृष्टि से सोचा जाए तो मृत्यु जीवन का एक सहायक अथवा सेवक है। जीवन के प्रधान-प्रधान सब हेतु मृत्यु और पुनर्जन्म के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। जीना और मरना दोनों जीवन के अंग हैं।

आंखें साफ रहें और देखने का काम पूरी ताजगी से कर सकें, इसलिए क्षण-क्षण पलकों के द्वारा आंखें बंद होती हैं और उसी व्यापार के द्वारा आंखें साफ भी होती हैं। मृत्यु का भी ऐसा ही उपयोग है। किंतु, कुदरत ने अथवा कुदरत के मालिक भगवान ने मृत्यु को आसान और सस्ता नहीं बनने दिया। यद्यपि यह बात सही है कि मृत्यु कब आयेगी, इसका पता नहीं लगता, तो भी मृत्यु आसानी से नहीं आती। जो लोग दिन-रात मृत्यु से खिलवाड़ ही करते हैं, ऐसे सैनिक और सेनापति भी कई युद्धों में जीवित रहते हैं। वे साक्षी दे सकते हैं कि मरना आसान नहीं है।

आस-पास कौन-कौन भूखा है, किसे खिलाने का हमारा धर्म है। जो अन्न हम खाते हैं, उस पर और किन-किन का अधिकार है—यह सब सोच कर धर्मबुद्धि को जाग्रत रख कर अन्न के समविभाग का (बांटने का) धर्म याद कर, उसका पालन करने के बाद ही मनुष्य खाना प्रारंभ करे। जहां भूख बढ़ी, वहां समविभाग धर्म जाग्रत नहीं रहता है, मंद होता है। लेकिन, जहां स्वाद बढ़ा, वहां समविभाग धर्म की जागृति होने पर भी मनुष्य उसका द्रोह करने लगता है। भूख के कारण होने वाले पापों की क्षमा हो सकती है। स्वाद-लोलुपता के कारण होने वाले पाप इतने घृणित होते हैं कि उनकी नीचता को क्षमा कौन करे? समाज-धर्म अगर जाग्रत रखना है, अद्रोह से जीना है, तो स्वाद पर विजय पानी ही चाहिए।

कुदरत में यह भी पाया गया है कि अकाल पड़ने पर या प्राकृतिक उत्पात होने पर जब सारा का सारा मुल्क बेचिराग हो जाता है, मनुष्य, सृष्टि और पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि—जीव-सृष्टि, खेचर, जलचर, भूचर आदि— त्रिविध प्राणी-सृष्टि और वनस्पति, सबका सर्वनाश होने के बाद भी, उसी स्थान पर फिर से जीवन का प्रादुर्भाव होता है और धीरे-धीरे सब योनियां पहले की जैसी ही प्रकट हो जाती हैं।

जीवन का आत्यंतिक नाश न हो और रोज-रोज स्वतंत्र रूप से सृष्टि का निर्माण करना न पड़े, इसलिए कुदरत ने प्राणियों में तीन अदम्य प्रेरणाएं रखी हैं।

मनुष्य अगर खाना नहीं खाएगा, जीवसृष्टि अगर आहार नहीं करेगी तो सृष्टि का अंत होगा। इसलिए कुदरत ने प्राणीमात्र में भूख और स्वाद की जबरदस्त प्रेरणा रखी है। मनुष्य खाने का निश्चय कर बैठे तो भी भूख और स्वाद हंसकर उसे कहते हैं—**मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्षति।** मनुष्य से

खाये बिना रहा नहीं जाता। भूख की आग उसे खाये बिना चैन नहीं पड़ने देती और स्वाद का लालच भी उसे खाने को प्रेरित करता है। प्राणीमात्र का अनुभव है कि खाये बिना रहा नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि खाना; या नहीं खाना, इसका निर्णय कुदरत ने मनुष्य के वश रखा ही नहीं।

दूसरी प्रेरणा है नींद की। नींद के बिना प्राणियों को आराम नहीं मिलता। शरीर में ताजगी नहीं आती। जब नींद आती है, तब प्राणी सो ही जाता है। विलासी मनुष्य भले ही कुछ समय के लिए नींद को टाल दे, मनस्वी और कार्यार्थी भले ही नींद पर काफी हद तक विजय प्राप्त करे, लेकिन अंत में नींद की विजय ही होती है। गुडाकेश (नींद का स्वामी) अर्जुन को भी सोना ही पड़ता था।

तीसरी प्रेरणा है भय की। आत्मरक्षा के लिए प्राणीमात्र में भय का स्वभाव रखा है। खतरा देखते ही प्राणी डर जाता है और फिर तो विवेक आदि सब भूलकर खतरा टालने के लिए भाग ही जाता है और भाग न सका तो लड़ने को तैयार होता है। भय भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक और अजेय तत्त्व है।

इस तरह जीने के लिए आहार, निद्रा और भय—ये तत्त्व कुदरत ने प्राणी-जीवन में जबरदस्त और अदम्य प्रेरणा के साथ जोड़ दिये हैं। उसी तरह जीवन-परंपरा अबाधित रखने के लिए संतानोत्पत्ति, प्रजोत्पत्ति के साथ भी संभोग की प्रेरणा उतनी ही जबरदस्त और करीब-करीब अदम्य बनाकर रखी है, ताकि प्राणी जीए और मरने के पहले दूसरे जीवों को, अपत्यों को पैदा करे और जीवन-परंपरा अक्षुण्ण रहे।

विश्व की निर्मिति और स्थिति अखंड चले इसलिए विश्व देवता जीवन ने यह जो व्यवस्था की है, उसी को समझ कर जीवन का हेतु सिद्ध करने के लिए कुदरत ने मनुष्य को धर्मबुद्धि दी है। आहार, निद्रा, भय और संभोग—इन चार सार्वभौम और अदम्य वृत्तियों को नियंत्रण में रखना, उन पर विजय पाना और जीवन के अस्तित्व को कृतार्थ करना—यही है धर्म का कार्य। धर्म के द्वारा ही व्यक्तिगत जीवन, कौटुम्बिक जीवन और सामाजिक जीवन कृतार्थ हो सकता है। जीवन के अंदर जो संघर्ष चलते हैं और जिनके कारण मृत्यु को बार-बार हस्तक्षेप करना पड़ता है, उसका नियंत्रण करना धर्म का काम है। धर्म के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकता है और जीवन को सफल बना सकता है।

अब ऊपर की चार सार्वभौम जीवन प्रेरणाओं के बारे में धर्म का रुख क्या है—हम जरा देखें। जीने के लिए आहार की आवश्यकता है। इस आहार के प्रति उपेक्षा न हो और उसके द्वारा जीवन का आनंद भी मिले, इसलिए कुदरत ने भूख और स्वाद, दो तत्त्वों को स्थान दिया है। भूख को हमारे शास्त्रों में **अशनाया पिपासा** कहा है। भूख के साथ प्यास भी है। जब हम भूख कहते हैं, तब उसमें प्यास का भी अंतर्भाव होता है। अगर सूक्ष्म ढंग से सोचा जाए तो श्वास-प्रश्वास भी भूख का ही एक रूप है। शरीर चलाने के लिए, शरीर का खून स्वच्छ रखने के लिए, खाद्य-पेय की जरूरत है। उससे भी अधिक श्वासोच्छ्वास की जरूरत है। अब धर्म श्वासोच्छ्वास को अपने हाथ में लेकर प्राणायाम के द्वारा, पूर्ण श्वसन के द्वारा, इस क्रिया को नियमित करके आरोग्य को और आयुष्य को बढ़ाता है।

धर्म में अति-आहार और अनाहार, प्रतिकूल आहार और प्रतिकूल समय का आहार टालने के लिए खान-पान का नियंत्रण किया गया है। इसी को 'योग' कहा जाता है। जो अधिक खाता है अथवा बिलकुल खाता ही नहीं, उसके लिए योग का लाभ नहीं मिल सकता। निद्रा का भी ऐसा ही है। आहार और निद्रा, दोनों का परस्पर संबंध घनिष्ठ है। अति-सोना और बिलकुल सोना ही नहीं, दोनों का धर्म ने निषेध किया है—

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तनम् अननश्तः।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।

भूख लगे तब खाना और भूख से ज्यादा नहीं खाना—ये दोनों बातें स्वाभाविक हैं, कठिन नहीं हैं। किंतु, केवल भूख की प्रेरणा प्राणियों के लिए बस नहीं है। इसलिए कुदरत ने प्राणियों को खाद्यानंद यानी स्वादानंद दिया है। खाने-पीने में क्षुधा-निवृत्ति के उपरांत स्वादतृप्ति भी मिलती है और जीना सार्थक होता है। इसी स्वादवृत्ति पर विजय पाए बिना जीवन कृतार्थ नहीं होता। देखा गया है कि भूख को रोकना इतना कठिन नहीं है, जितना स्वाद को रोकना मुश्किल है।

स्वाद के वश होने पर मनुष्य अपने सब कर्तव्यों को भूल जाता है। आरोग्य का नाश होगा और प्राणियों को भूखे रहना पड़ेगा, तरह-तरह के रोग शरीर में पैदा होंगे। यह सब जानते हुए भी यह सारा ज्ञान स्वाद के सामने गायब हो जाता है। जिन दो चीजों का एक साथ खाना शरीर-प्रकृति के लिए

बाधक है, उनको स्वादलोलुप मनुष्य खाए बिना नहीं रहता। स्वाद का दास खाने की मात्रा भी संभाल नहीं सकता और साथियों के प्रति, कुटुंबियों के प्रति और समाज के प्रति (और पशु-पक्षी आदि जीव-सृष्टि के प्रति भी) अपना कर्तव्य या धर्म स्वादलोलुप मनुष्य के ध्यान में नहीं रहता। इसलिए स्वाद-जय को धर्म की बुनियाद कहा है—**जितं सर्वं जिते रसे।**

गांधीजी ने इसी को 'अस्वाद व्रत' कहा है। इसका सीधा अर्थ यही है कि जो कुछ भी खाना हो, स्वादतृप्ति के लिए और स्वाद को बढ़ाना देने के लिए हम न खाएं, किंतु क्षुधा निवारण के लिए, शरीर धारण के लिए, इंद्रियों की शक्ति, शरीर-शक्ति पूर्ण रूप से कायम रखने के लिए योग्य मात्रा में अथवा उससे कुछ कम खाना मनुष्य के लिए हिततम है। इसके मानी यह नहीं कि खाते समय मनुष्य को स्वाद का आनंद नहीं मिलेगा। दूध पीते, रोटी खाते, गन्ना चूसते या शहद चाटते स्वादेंद्रिय को स्वाद का अनुभव तो होगा ही। शरीर को तुष्टि और पुष्टि मिलेगी ही, लेकिन इनके वश न होने की जागृति अखंड और कायम रखनी चाहिए। इस कर्तव्य को समझाने के लिए श्री शंकराचार्य संन्यासियों को कहते हैं—**क्षुद् व्याधिश्च चिकित्स्यताम्**—क्षुधा को, भूख को एक रोग ही समझ लो और उस रोग को दूर करने की दवा आहार है, ऐसा समझकर योग्य मात्रा में ही उसका सेवन करो। दवा कम या ज्यादा खाने से भयानक नुकसान होता है, यह हर कोई जानता है। शंकराचार्य कहते हैं—**स्वादु अन्नं न तु याच्यताम्।** स्वादिष्ट अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए। उसके लिए लालायित नहीं होना चाहिए। **विधिवशात् प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।** इत्तिफाक से जो कुछ प्राप्त हुआ, मिला, उससे संतोष मानना चाहिए। एक दूसरी कसौटी भी है—**यथा मेदोवृद्धिर्न जायते।**

शरीर में चरबी न बढ़े, इसकी संभाल रखनी चाहिए। औषध के समान योग्य मात्रा में ही खाना चाहिए।

किसी ने थोड़े शब्दों में कहा है—'जिन इंद्रियों में हड्डी नहीं है, उनका उन्माद जबरदस्त है। इन दोनों पर विजय पाना जगत को जीतने के समान है। इसमें जीभ को जीतना नित्य विजय है। इसीलिए कहा है कि अगर स्वाद जीत लिया तो सब कुछ जीत लिया।'

और भी एक बात है। जब कभी हम खाने बैठते हैं, तब भूख के जोर को भी दबाकर मनुष्य औरों के खाने की चिंता करे। आस-पास कौन-कौन भूखा है, किसे खिलाने का हमारा धर्म है। जो अन्न हम खाते हैं, उस पर और किन-किन का अधिकार है—यह सब सोच कर, धर्मबुद्धि को जाग्रत रख कर, अन्न के समविभाग का (बांटने का) धर्म याद कर, उसका पालन करने के बाद ही मनुष्य खाना प्रारंभ करे। जहां भूख बढ़ी, वहां समविभाग धर्म जाग्रत नहीं रहता है, मंद होता है। लेकिन, जहां स्वाद बढ़ा, वहां समविभाग धर्म की जागृति होने पर भी मनुष्य उसका द्रोह करने लगता है। भूख के कारण होने वाले पापों की क्षमा हो सकती है। स्वाद-लोलुपता के कारण होने वाले पाप इतने घृणित होते हैं कि उनकी नीचता को क्षमा कौन करे? समाज-धर्म अगर जाग्रत रखना है, अद्रोह से जीना है, तो स्वाद पर विजय पानी ही चाहिए। ❖

सूख रही हैं संवेदनाएं

पृष्ठ 36 का शेष

'जीवन-विज्ञान' के प्रयोग काफी व्यापक व लोकप्रिय बने हैं। अनेक प्रांतीय सरकारों ने इसे उदारता के साथ शिक्षा में स्थान दिया है। यदि यह क्रम इसी तरह आगे बढ़ता रहा तो निश्चित ही आने वाली पीढ़ी संस्कार-संपन्न होगी। उसके भीतर सहयोग, सौहार्द, सद्भावना और संवेदना का दरिया लहलहाता नजर आएगा।

संवेदनशीलता सामाजिक चेतना के जागरण का आधारसूत्र है। शरीर में प्राणधारा प्रवहमान है तो हर अवयव शक्तिशाली रह सकता है। प्राण का प्रवाह अवरुद्ध हुआ कि शरीर मात्र अस्थियों का ढांचा बन जाएगा। ठीक इसी तरह संवेदनशीलता न हो तो समाज भी अस्थियों का ढांचा मात्र रह जाता है। हमारे आस-पास बहुत-सारी घटनाएं होती हैं, उन्हें देखने के लिए संवेदना की आंख चाहिए। संवेदना की आंख बंद है तो यथार्थ ओझल रहेगा। संवेदना की आंख खुली है, तो सचाई को हस्तामलकवत साफ देखा जा सकता है।

आज की बड़ी अपेक्षा यह है कि व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर संवेदना का भाव विकसित हो। बच्चों को प्रारंभ से ही संवेदना, सौहार्द व सहयोग के संस्कार दिए जाएं। बड़े लोग अपने जीवन को आदर्श बनाएं। जरूरत है कि हम अच्छाइयों को प्रोत्साहन दें। परोपकार की दिशा में आगे बढ़ते रहें।

आत्म-साक्षात्कार की मंजिल तक पहुंचने का मार्ग भी यही है। ❖

सच्चा यज्ञ

❑

उमाशंकर त्रिपाठी 'बंधुजी'

शाम हुई। बत्तियां जलीं। आरती हुई। रवि अपना बस्ता लेकर पढ़ने बैठ गया। जब उसका पढ़ना समाप्त हो गया, उसने मां को पुकारा—'मां, मैंने अपना सारा काम पूरा कर लिया है। अब कहानी सुनने का समय हो गया है। मैं आ जाऊं?'

'आ जाओ बेटा, मैंने भी अपना काम पूरा कर लिया है।'—मां ने उत्तर दिया।

'एक थी चिड़ी, एक था चिड़ा।'—मां ने शुरू किया—'दोनों में बड़ा प्रेम था। दिन में साथ-साथ दाना चुगते। रात में एक ही जगह सो जाते।

एक दिन सुबह से ही वर्षा हो रही थी। उनको दाना कहीं मिला नहीं; सो एक दाने के पीछे दोनों लड़ पड़े। चिड़ी रूठकर अलग जा बैठी। वहीं एक बिल्ली भी घात लगाए बैठी थी। उसे भी खाने को कुछ नहीं मिला था सो वह भी भूखी थी। उसने झपट्टा मार कर चिड़ी को पकड़ लिया और मार कर चट कर गई। यह देखकर चिड़ा बहुत दुखी हुआ। पर, अब क्या हो सकता था?'

—'मां! आपने तो कहा कि दोनों में बड़ा प्रेम था।' बेटे ने शंका प्रकट की।

—'हां, था तो।'

—'फिर एक दाने के पीछे दोनों कैसे लड़ पड़े?'

—'बेटा, जब भूख बेचैन कर देती है, तो विवेक नष्ट हो जाता है। विवेक के नष्ट होते ही सही-गलत का खयाल भी नष्ट हो जाता है।'

—'मां, क्या सभी का विवेक नष्ट हो जाता है?' बेटे ने जिज्ञासा प्रकट की।

—'सब के साथ तो ऐसा नहीं होता, बेटा! जो समझदार हैं, विपत्ति में भी उनका विवेक नष्ट नहीं होता।'

—'तो मां, आज एक ऐसी कहानी सुनाइए जिसमें किसी ने

कृष्ण ने अर्जुन की यह गर्वोक्ति सुनकर व्यासजी की ओर मुस्कराते हुए देखा। व्यासजी कृष्ण के मन की बात समझ गए। इतने में सबने क्या देखा कि एक विचित्र नेवला, जिसका आधा धड़ सोने जैसा चमक रहा था, जूठी पत्तलों में अपने शरीर को लगातार रगड़ रहा है और किट-किट-किट रोष के साथ कुछ कह भी रहा है। व्यासजी ने मंत्रपूरित थोड़ा-सा जल उस पर छिड़का। जल के पड़ते ही नेवले की वाणी फूट गई। वह आदमी के समान बोलने लगा और कहने लगा—'झूठा है, झूठा है, युधिष्ठिर का यज्ञ एकदम झूठा है।'

बालकथा

भूखे रहकर भी दूसरों को अपना हिस्सा दे दिया हो।'

मां एक क्षण के लिए गंभीर हो गई। फिर बोली—'अच्छा बेटा, आज तुझे एक ऐसे ही आदमी की कहानी सुनाती हूं। लो सुनो।'

× × ×

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका था। इसमें पांडव विजयी हुए थे। विजय की खुशी में उन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। भोजन समाप्त होने के बाद कृष्ण, व्यासजी, अर्जुन, भीम आदि सभी लोग हाथ-मुंह धो रहे थे। भीम अर्जुन से कह रहे थे—'ऐसा यज्ञ तो संसार में शायद किसी ने भी नहीं किया होगा?'

—'इसमें क्या शक है'—अर्जुन ने सीना फुलाकर गर्व के साथ कहा।

कृष्ण ने अर्जुन की यह गर्वोक्ति सुनकर व्यासजी की ओर मुस्कराते हुए देखा। व्यासजी कृष्ण के मन की बात समझ गए। इतने में सबने क्या देखा कि एक विचित्र नेवला, जिसका आधा धड़ सोने जैसा चमक रहा था, जूठी पत्तलों में अपने शरीर को लगातार रगड़ रहा है और किट-किट-किट रोष के साथ कुछ कह भी रहा है। व्यासजी ने मंत्रपूरित थोड़ा-सा जल उस पर छिड़का। जल के पड़ते ही नेवले की वाणी फूट गई। वह आदमी के समान बोलने लगा और कहने लगा—'झूठा है, झूठा है, युधिष्ठिर का यज्ञ एकदम झूठा है।'

व्यासजी ने बड़े प्रेम के साथ उस विचित्र देहधारी नेवले से कहा—'हे विचित्र देहधारी नकुल! तुम युधिष्ठिर के इतने बड़े यज्ञ को झूठा किस कारण से कह रहे हो; वह हम सबको बताओ, वरना तुम अर्जुन और भीम के कोप-भाजन बन जाओगे।'

—'भले ही मैं कोप-भाजन बन जाऊं। लेकिन यह बिल्कुल सत्य है कि यह यज्ञ झूठा है, झूठा है।'

सारे पांडव आश्चर्यचकित-से चुपचाप खड़े थे। कृष्ण मंद-मंद मुस्करा रहे थे। तभी व्यासजी ने पुनः कहा—'हे श्रेष्ठ नकुल! अगर युधिष्ठिर का यह यज्ञ झूठा हो सकता है, तो सच्चा यज्ञ किसका होगा—यह रहस्य हमसे खोलकर कहो।'

व्यासजी के ऐसा कहने पर नेवला बोला—'हे मुनिवर, सच्चा यज्ञ नैमिषारण्य में रहने वाले एक ब्राह्मण का था।'

—'वह कैसा यज्ञ था जिसे तुम इतना श्रेष्ठ मानते हो—यह बात भली प्रकार समझा कर कहो।' व्यासजी ने नेवले के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

इस पर उस नेवले ने कहना प्रारंभ किया—नैमिषारण्य में एक ब्राह्मण परिवार रहता है। ब्राह्मण, ब्राह्मणी, एक बेटा और बहू। बस इतने ही प्राणी हैं उस परिवार में। आस-पास के गांवों में जाकर जनता की सेवा करना ही उन्होंने अपना धर्म बना रखा है। ब्राह्मणी और बहू दिन-भर पके हुए दाने—जो खेत काटते समय जमीन में गिर जाते हैं—उनको चुनती रहती हैं। रात को उन्हीं को पका कर सारा परिवार खा लेता है। ब्राह्मण और उसका बेटा दिन-भर समाज-सेवा में रत रहते हैं। यही उनकी दिनचर्या है। यही उनकी जीविका का आधार है।

एक बार ब्राह्मणी और उसकी बहू तीन दिन तक खेतों में अनाज बीनने नहीं जा सकीं। अतः तीन दिन तक उस परिवार ने व्रत रखा। लेकिन, उनकी समाज-सेवा का कार्य नियमित रूप से चलता रहा। चौथे दिन ब्राह्मणी और उसकी बहू ने थोड़ा-सा अनाज इकट्ठा किया। उसे साफ करके पकाया। और बड़े प्रेम से ब्राह्मण और अपने बेटे को बुलाकर रांधा हुआ भोजन पत्तल में परोस दिया। ये दोनों ग्रास उठाकर मुंह में डालने ही वाले थे कि बाहर से आवाज आई—'मैं भूखा हूं। मुझे भोजन दो।'—ब्राह्मणी ने दरवाजा खोल दिया। एक जीर्ण-शीर्ण काया छाया की तरह द्वार पर खड़ी कांप रही थी।

बड़े प्रेम से ब्राह्मणी उसको अंदर लाई। हाथ-पैर धुलाए और बड़े आदर के साथ पत्तल में भोजन परोस दिया। वह जर्जर काया पता नहीं कितने दिनों की भूखी थी, उसने देखते ही देखते पत्तल साफ कर दी। ब्राह्मण ने अपने सामने की पत्तल बड़े प्रेम से उसके सामने सरका दी। देखते ही देखते पत्तल साफ हो गई। तब बेटे ने भी अपनी पत्तल सरका दी। वह भी साफ। जब ब्राह्मणी

अपनी बहू का हिस्सा परोसने लगी, तो उसने हाथ रोक दिया। और कहा—'बेटी, बहू का हिस्सा मैं नहीं लूंगा।'—उसने हाथ धोए। मुंह साफ किया। फिर लकड़ी के सहारे खड़ा हो गया और बोला—'तुम लोगों ने स्वयं भूखे रह कर, मेरी क्षुधा शांत की है; अतः तुमको महायज्ञ का फल प्राप्त होगा।'—इतना कह कर वह चला गया।

ब्राह्मण ने जूठी पत्तलों को बाहर फेंक दिया और बड़ी शांति के साथ कुटिया में चले गए। व्यासजी, मैं आपको क्या बताऊं; उन जूठे अन्न के दानों से ऐसी सुगंध फैल रही थी कि सारा वन प्रदेश सुरभित हो उठा। सौभाग्य से मैं उधर से निकल रहा था। कुतूहलवश मैं उन जूठी पत्तलों के पास चला गया। अन्न तो वहां था नहीं; किंतु आनंद-विभोर होकर मैं उन पत्तलों पर लौटने लगा। और मेरा जितना अंग उस जूठन से रगड़ गया, वह दिव्य प्रभा से चमकने लगा जिसको आप सबने अभी देखा ही है। उसी समय मुझे लगा कि मुझसे कोई कह रहा है कि हे नकुल! जहां-कहीं सच्चा यज्ञ हो, वहां जाकर उसके जूठन में अपने अंगों को रगड़ो। अगर वह यज्ञ सच्चा होगा, तो तुम्हारे बचे हुए अंग भी सोने की तरह चमकने लगेंगे।

सो, हे व्यासजी! तब से लेकर आज तक जहां-कहीं भी कोई यज्ञ होता है, वहां मैं जाता हूं। अपने शरीर को रगड़ता हूं। किंतु, आज तक मेरे शरीर का एक रोयां भी चमकीला नहीं हो सका है।

मैंने जिस दिन यह सुना कि धर्मराज युधिष्ठिर भी एक महायज्ञ कर रहे हैं, तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। मुझे विश्वास था कि इस यज्ञ की जूठन से मेरा शेष शरीर भी सुनहला हो जाएगा। आप देख ही रहे हैं कि इतनी देर से मैं प्रत्येक पत्तल में अपने शरीर को घिस रहा हूं। किंतु, अभी तक तो मेरा एक रोयां भी नहीं बदल सका है। इसीलिए मैं रो-रो कर यह कह रहा हूं कि हाय! हाय! यह महायज्ञ भी झूठा ही है। हे प्रभु! मैंने अपने मन की बात आपके सामने प्रकट कर दी है। अब आपको अधिकार है, मुझ तुच्छ जीव को मेरी धृष्टता के लिए जो चाहें सजा दें।

इतना कह कर नेवला चुप हो गया। उसकी वाणी भी लुप्त हो गई। कृष्ण ने व्यासदेव की ओर मुस्कराते हुए देखा। सभी पांडव अपने हृदय की गहराइयों में प्रविष्ट होकर सत्य को देखने का प्रयत्न कर रहे थे।

× × ×

बेटा भी मंत्र मुग्ध-सा अपनी मां की ओर एकटक देख रहा था। मां अपने हृदय की गहराई में न जाने कहां खो गई थी और बेटा उस महायज्ञ के बारे में सोचे जा रहा था।

जब दोनों प्रकृतिस्थ हो गए, तो बेटे ने एक गहरी सांस लेकर मां से कहा—'मां, आज आपकी कहानी मुझे बहुत ही अच्छी लगी है। मुझे तो पता ही नहीं था कि महाभारत में इतनी अच्छी-अच्छी बातें भी हैं।'

—'बेटा! जन-साधारण को सरल ढंग से जीवन के गूढ़-रहस्यों को समझाने के लिए ही व्यास भगवान ने इसकी रचना की थी।'

इसके बाद मां-बेटे, दोनों ही सोने चले गए। ❖

'माया' अंधकार की तरह है, बाह्य शक्ति से उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। कितना भी पानी डालें, इसे धो डालने में असमर्थ रहेंगे। सत्य एक दीपक की तरह है जिसकी शिखा जलते ही इसके आलोक में 'माया' विलीन हो जाती है। हमारे शास्त्रों में कहा है कि सत्य चाहे अल्प मात्रा में हो तो भी हमारी महान भय से रक्षा करता है। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' भय है मन की नास्तिकता। इसे नकारात्मक रूप से परास्त नहीं किया जा सकता। किवदंती के दानव की भांति यदि इसका एक सिर काटते हैं तो सौ और पैदा हो जाते हैं और यह जीवित रहता है। धर्म सत्य है, मन की आस्तिकता है। इसके अल्प मात्र प्रभाव से नकारात्मकता की पूर्ण पराजय संभव है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय. गंगाशहर. बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

हार्दिक मंगल कामना

एक शुभ चिन्तक

प्रेषण दिनांक 6 मार्च, 07 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. Tech.(WR)47-2/05-06/11
जैन भारती, मार्च, 2007 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

दी लक्ष्मी टी कम्पनी लिमिटेड
C/o श्री पदमचंद मुथा एण्ड कम्पनी
सी-2, मुख्य मण्डी, मण्डोर रोड
जोधपुर 342007 (राज.)
दूरभाष 2570628, 2570119

Luxmi
The Luxmi Tea Company Limited

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।